सूक्तावली

[illegible]

सारुक्तावली



वेदान्त-केसरी श्रीस्वामी मनोहरदासजी महाराज

मूल्य



अनन्त-श्री-विभूषित सन्त श्रीस्वामी लीलाशाहजी महाराज

पं० श्रीगुरुप्रसादजी द्वारा संगृहीत

सूक्तावली

सहिता

कविवर श्रीहरदयालकृत भाषापद्यात्मिका

सारुक्तावली

(पंचाध्यायात्मिका)

पहला भाग

* टीकाकार एवं प्रकाशक *

वेदान्त-केसरी श्रीस्वामी मनोहरदासजी महाराज

संस्थापकः—श्री-अखिल-भारतीय वेदान्त-प्रचार-मण्डल
अद्वैत आश्रम, रामनगर, पुष्कर रोड, अजमेर

मुद्रक :

इण्डिया प्रिण्टर्स, कचहरी रोड, अजमेर

मूल्य : दो रुपये

प्राक्कथन

सभ्यता व संस्कृति का शिरोमणि यह भारतवर्ष जिस प्रकार अनेक विद्याओं का रत्नाकर है उसी प्रकार यहाँ की नीति-परम्परा भी अद्वितीय तथा अनुकरणीय है। संसार में अस्तित्व प्राप्त करके जो नीतिशास्त्र के विज्ञान से विमुख रहा उसके विषय में हमें यह कहते हुए कोई संकोच नहीं होता कि "तस्या-जननिरेवास्तु जननी-क्लेशकारिणः" अर्थात् ऐसे पुरुष का जन्म केवल अपनी माता के प्रसव-वेदना के निमित्त ही है अतः उसका संसार में आगमन निरर्थक है। नीतिशास्त्र सर्वप्रथम हमें सत्सङ्ग का प्रशिक्षण व उपदेश करता है, सत्सङ्ग की महिमा के विषय में महाभारत में कहा है कि—

"सङ्गः सर्वात्मना हेयः स चेत् हातुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां संगोहि भेषजम् ॥"

भाव यह है कि मनुष्य को सर्वथा सङ्गरहित रहना चाहिए, यदि सङ्ग छोड़ा नहीं जा सके तो वह सज्जनों के साथ होना चाहिए; क्योंकि सज्जनों की सङ्गति एक परम औषधि है। महाकवि भर्तृहरिजी ने भी सत्सङ्ग का महत्त्व कितने महत्त्वपूर्ण शब्दों में प्रदर्शित किया है; जैसे कि—

"जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिम्,
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥"

अर्थात् सत्सङ्गति बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी में सत्य का सेचन करती है, गौरव देती है, पाप दूर करती है, चित्त प्रसन्न करतो है और सर्वदा कीर्ति फैलाती है; इस प्रकार सत्सङ्गति पुरुषों के लिये क्या नहीं करती ? सब कुछ करती है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी—

"काचः काञ्चनसंसर्गाद्, धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम्॥"
"कीटोऽपि सुमनः संगादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं, महद्भिः सुप्रतिष्ठितः॥"
"यथोदय-गिरे-र्द्रव्यं, सन्निकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्सन्निधानेन, हीनवर्णोऽपि दीप्यते॥"

इत्यादि सुभाषितों से सत्सङ्ग की महिमा का स्पष्ट परिचय मिलता है।

महात्मा श्री तुलसीदासजी ने भी अपने रामचरितमानस में कितने सारगर्भित शब्दों में इसकी प्रशंसा की है—"**बिनु सत्सङ्ग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।**" अतः हमें यह निर्विवाद स्वीकार करना होगा कि नीतिशास्त्र-रूपी स्वच्छ आदर्श (आईना) जब तक हमारे समक्ष नहीं होगा, तब तक हम अपनी विशुद्ध अन्तःकरण-रूपी प्रतिमा का पावन दर्शन नहीं कर सकते। नीतिशास्त्र हमारी संस्कृति का वह उपादेय तथा मूल्यवान् आधार है, जिसको हमारे देश के पूर्वज महानुभाव दिव्य-स्वभाव, त्रिकालज्ञ महायोगी आचार्यों ने अपने अनन्त ज्ञान की महिमा से इस जगत् को अनादि जानकर अपने अप्रतिहत योगबल के द्वारा परीक्षित कर निर्मित किया है। इस पुण्य भूमि भारत वसुन्धरा पर कितने ही राजर्षि, महर्षियों के आविर्भाव, तिरोभाव तथा जनसमूह का कितनी बार परिवर्तन

हुआ है, किन्तु उन महर्षियों के योगबल से रचित वह नीतिशास्त्र आज भी ध्रुव के समान प्रकाशमान हो रहा है; उनके इन ज्ञानपूर्ण रत्नों के कारण आज भी यह पुण्यभूमि संसार में रत्नभण्डार के नाम से विख्यात है। इस शास्त्र में महर्षि मनु, बृहस्पति, शुक्र, बाल्मीकि, पराशर, व्यास और चाणक्य आदि महात्माओं की विशिष्टातिविशिष्ट महान् ग्रन्थराशि आज भी यथापूर्व अनायास सुलभ है तथा अपने विज्ञान-रूपी सूर्य की दिव्यज्योति से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित एवं चमत्कृत कर हमें उपकृत कर रही है। इसके उपदेश सभी अवस्थाओं में मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी हैं, क्या योगी, क्या भोगी सबके लिए ही समान उपकारक हैं; इनसे योगी योग-सिद्धि, भोगी पवित्र भोग-शक्ति, रोगी रोग-शान्ति और शोकार्त शोक-शान्ति को प्राप्त होता है। राजा, प्रजा, गृहस्थ, संन्यासी, पण्डित, मूर्ख, कवि, निर्धन, बालक, वृद्ध, युवा और आतुर सभी के लिए स्नेहमयी जननी के समान सुखदायक हैं। नीतिशास्त्र अति विशाल व विस्तृत है, अति परिश्रम से भी वह बड़ी कठिनाई से सुबोध हो पाता है। इस शास्त्र के विशिष्ट उपदेशों का उपयोग व प्रयोग बाल्यकाल से ही किया जाना अतिशयेन प्रशस्य हो सकता है, क्योंकि नीति में कहा है, **"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्"** अर्थात् नवीन पात्र में लगा हुआ संस्कार परिवर्तित नहीं होता। और हमारे लिये नीतिशास्त्र का अध्ययन व मनन सुपरिणामजनक भी है। अतः इसी लक्ष्य को सामने रख कर हमारे बहुत से आधुनिक विद्वान् आचार्यों ने इस नीति-शास्त्र-रूपी रत्नाकर का मन्थन कर भव्यातिभव्य सुभाषितामृत प्राप्त करके प्रकीर्ण स्वरूप से उसे संगृहीत करके सर्व साधारण के उपयोग के लिए प्रसारित किया है। पण्डित श्रीगुरुप्रसादजी द्वारा संगृहीत 'सूक्तावली' सहित श्रीहरदयालजी रचित

'सारुक्तावली' इसका एक प्रमुख निदर्शन है। प्रकृत पुस्तक पन्द्रह अध्यायों में सामयिक एवं व्यावहारिक अच्छे से अच्छे सूक्तों से निबद्ध है। इसके प्रचार एवं प्रसार से जन-कल्याण का होना सुनिश्चित है। आध्यात्मिक विचारों में सद्भावना की जागृति के लिए इस पुस्तक का संग्रह, अध्ययन तथा अध्यापन बहुत ही आवश्यक है। इसका आधुनिक पंच अध्यायात्मक नवीन संस्करण १५ अध्यायों में से पाँच-पाँच अध्यायों को अंशांश कल्पना से पृथक् करके आरम्भिक शंका, समाधानपूर्वक अन्वय और विशद हिन्दी अनुवाद से संवलित करके प्रकरणान्तःपाती तत्तत् प्रौढ़-शास्त्रीय विषयों के मार्मिक विवेचनों के साथ-साथ सहृदय नीतिज्ञों की सेवा में प्रस्तुत है।

इसके नवीन रूपान्तरकार श्रीस्वामी मनोहरदासजी हैं, आप संस्कृत के प्रकांड पंडित एवं अध्यात्म विद्या के मार्मिक प्रवक्ता व प्रचारक हैं। आपने इस पुस्तक को नवीन कलेवर देकर सुवर्ण में सुगन्ध का समवाय कर दिया है। हमें आशा ही नहीं, दृढ़ विश्वास भी है कि प्राचीन सभ्यता व संस्कृति के प्रेमी सज्जन प्रस्तुत पुस्तिका से अनुपम लाभ उठाते हुए इसके प्रचार-कार्य में परम उत्साह से सहयोग प्रदान करेंगे। श्रीस्वामीजी इस लोकोपकारक कृति के लिए अत्यन्त धन्यवादार्ह हैं। इसके प्रचार के लिए मैं हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूँ।

शुभाकांक्षी
दयानन्द शर्मा शास्त्री
जयपुर

ॐ

दो शब्द

श्री सद्गुरुमहाराजजी (श्रीस्वामी लीलाशाह महाराजजी) की प्रेरणा व आशीर्वाद से जयपुर में सन् १९५५ के जून मास में रामनिवास बाग में इस दास द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता व श्रीविचारसागर पर सत्सङ्ग आरम्भ किया गया। सत्सङ्गियों की वेदान्त में रुचि बढ़ती गई, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ श्रीवेदान्त-प्रचार-मण्डल की स्थापना हुई और मूलभूत श्रीविचारसागर व श्रीगीताजी की आरती आदि उपयोगी कृतियां छपवा कर सत्सङ्गियों में प्रचारार्थ निःशुल्क बाँटी गयीं। कुछ सत्सङ्गियों की ऐसी इच्छा हुई कि जिन वेदान्त के संस्कारों से हमारे जीवन में प्रकाश व शान्ति प्राप्त होती जा रही है, वे वेदान्त के संस्कार यदि विद्यार्थी अवस्था में ही प्राप्त हों, तो उनका अधिक उपयोग हो सकता है। किन्तु वेदान्त के संस्कारों का आह्वान होने के पहले अन्तःकरण का शुद्ध होना परम आवश्यक है। और अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिये प्रभु-भक्ति, गुरु-भक्ति व व्यवहार के शुद्ध होने की अत्यन्त आवश्यकता है। और व्यवहार को शुद्ध करने के लिए विद्यार्थी-अवस्था में ही नीति की शिक्षा अधिक आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम इस सूक्तावली (सारुक्तावली) नामक पुस्तक को टीका करके जनता-जनार्दन की सेवा में उप-स्थित कर रहा हूँ। इसमें ऊपर से संस्कृत श्लोक, फिर उसके

नीचे पदच्छेद व अन्वय सहित अर्थ, तदनन्तर उस श्लोक के अर्थ को बतलाने वाले श्रीहरदयालजी-रचित दोहे व चौपाइयां, उसके बाद उनके कठिन शब्दों का अलग-अलग अर्थ देकर फिर सम्पूर्ण अर्थ को सरलरूप से समझाने का प्रयत्न किया है। आशा है, यह अल्प सेवा अध्यात्ममार्ग के विद्यार्थियों को सद्व्यवहार में प्रवीण करने में परम सहायक होगी।

इस सेवा का श्रेय जयपुर की जनता को है। यहाँ के सत्सङ्गियों ने ही मुझे इस सेवा में प्रेरित किया है। एतदर्थ यहाँ का वेदान्त-प्रचार-मण्डल धन्यवादार्ह है। और श्रीआत्मारामजी, जो कि पहले यहाँ जयपुर के सत्सङ्गियों में से थे और वर्तमान में पूना-नगर-वासी हैं; उन्होंने ही इस पुस्तक के प्रकाशन की सेवा का भार उठाया है। अतः वे भी धन्यवाद के योग्य हैं। प्रभु उनको ऐसी सुमति सदा प्रदान करते रहें जिससे उनकी इस प्रकार के समाजसेवा-रूपी धार्मिक कार्यों में प्रवृत्ति बनी रहे और मानव जीवन के परमलक्ष्यभूत मोक्ष को प्राप्त करने के लिये जिस आत्माऽभिन्न ब्रह्मस्वरूप के अनुभव की आवश्यकता है, उस अनुभव को प्राप्त करने की योग्यता पाकर अपने जीवन को सफल करें।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आश्विन शुक्ला सप्तमी — स्वामी मनोहरदास

संवत् २०१४

३०/९/१९५७

ॐ

अब यह दूसरा संस्करण स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हो रहा है। आशा है जिज्ञासुजन इससे सद्व्यवहार की प्रेरणा प्राप्त करेंगे। ॐ शम्।

शिवरात्रि १९७३ ४/३/७३ — स्वामी मनोहरदास

॥ ॐ ॥

विषय-सूची

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

सूक्तावली

संहिता

सारुक्तावली

भाषा टीका संहिता

दोहा—श्रीपति प्रथम नमामि मम, योगी हृदय निवास ।
भोगी हृदय उदास जो, वे मम सुमति प्रकाश ॥

अर्थः—जिनका योगियों (अनन्य भक्त अर्थात् ज्ञानियों) के हृदयों में निवास है और जो भोगियों के हृदयों से उदास हैं, ऐसे लक्ष्मी-पति भगवान् विष्णु को मेरा नमस्कार है। वे मुझे सुमति एवं ज्ञान प्रदान करें।

शंकाः—भगवन् ! आपने श्रीपति का अर्थ भगवान् विष्णु बताया। मैंने तो सुना है कि भगवान् विष्णु शंख चक्र गदा पद्म धारी हैं। वे तो उनके हृदय में आने चाहिये जो उनका ध्यान करें। सभी योगी, भक्त अथवा ज्ञानी तो विष्णु का ध्यान नहीं करते। कोई विष्णु का तो कोई विराट् का, कोई शिव का तो कोई सूर्य का, कोई गणेश का तो कोई गिरिधारी का, कोई सगुण का तो कोई निर्गुण का, फिर सभी योगी, भक्त वा ज्ञानियों के हृदयों में केवल विष्णु का निवास कैसे कहा ?

उत्तरः—यहाँ विष्णु का तात्पर्य शंख चक्र गदा पद्म धारी साकार सगुण ब्रह्म से नहीं किन्तु व्यापक [विष्णु=व्यापक] निराकार सगुण ब्रह्म से है।

शंकाः—भगवन्! सगुण ब्रह्म, निराकार भी होता है क्या ?

उत्तरः—हाँ तात! सगुण ब्रह्म निराकार और साकार भेद से दो प्रकार का है। ब्रह्मा विष्णु महेश (कार्य ब्रह्म) तथा राम कृष्ण आदि अवतार ये सब साकार सगुण के रूप हैं। और जो माया-विशिष्ट-चेतन सारे संसार की उत्पत्ति, स्थिति व पालन करता है जो सर्वत्र परिपूर्ण है वह उनका निराकार सगुण स्वरूप है।

शंकाः—भगवन्! उसे सगुण क्यों कहते हैं ?

उत्तरः—हे तात! गुण कहते हैं माया को। भगवान् ने भी गीता में कहा है कि "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (७ अ० १४ श्लो०) अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्यरूप ब्रह्म में कल्पित सत्त्व, रज और तमोगुणरूप इस मेरी माया का अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार हे शिष्य! गुण का अर्थ हुआ माया और सगुण का अर्थ हुआ माया-सहित। इसीलिये श्रीपति कहा। श्री अर्थात् माया, पति माने स्वामी अर्थात् माया का प्रेरक वही माया-विशिष्ट-चेतन ईश्वर।

शंकाः—भगवन्! क्या उन साकार सगुण विष्णु आदिकों को ईश्वर नहीं कहा जायेगा ?

उत्तरः—हे शिष्य! वे भी उस ईश्वर के ही स्वरूप विशेष हैं। वास्तव में जो शंख चक्र आदि आकार हैं वे सब माया के परिणाम हैं अर्थात् माया के स्वरूप हैं। चेतन तो सदा ही निराकार है। मोक्षधर्म में आया है कि:—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि॥"

अर्थात् हे नारद ! सब भूतगुणों से युक्त जिस मुझ को तुम देखते हो यह तो मेरी रची हुई माया है; मुझे तो तुम इन चर्म चक्षुओं से देख ही नहीं सकते। अर्थात् जो मैं तुम्हें शरीर रूप से दीख रहा हूं यह मेरा दर्शन नहीं, किन्तु मेरी माया का ही दर्शन है।

शंका:—भगवन् ! वह माया-विशिष्ट-चेतन ईश्वर तो सब जगह व्यापक है। गीता में भी आया है कि:—

"ईश्वर : सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"

(१८ अ० ६१ श्लो०)

अर्थात् "हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में रहता है।" फिर श्रीहरदयालजी महाराज कैसे कह रहे हैं कि वह श्रीपति अर्थात् माया-विशिष्ट-चेतन ईश्वर योगियों के हृदयों में निवास करते हैं और भोगियों के हृदयों से उदास हैं ?

उत्तर:—हे शिष्य ! उनका तात्पर्य यह है कि ईश्वर व्यापक तो सब जगह है, किन्तु उनका साक्षात्कार, योगी अनन्य भक्त अर्थात् ज्ञानियों के हृदयों में ही होता है और भोगियों के हृदयों में नहीं होता।

जैसे दो जल से भरी हुई कूँडियाँ हों। एक में स्वच्छ व स्थिर जल हो और दूसरी में मलिन व चञ्चल जल हो। सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा तो दोनों में किन्तु स्वच्छ व स्थिर जल में वह साफ दिखेगा और गन्दे में साफ नहीं दिखेगा। अब बच्चों को समझाने के लिये कहा जा सकता है कि बालको ! सूर्य का प्रतिबिम्ब वहीं पड़ता है जहाँ जल स्वच्छ हो। यदि सूर्य के प्रतिबिम्ब का दर्शन करना चाहते हो तो जल को साफ करो। इसी प्रकार अज्ञानी समाज को समझाने के लिये श्रीहरदयालजी महाराज कह रहे हैं कि ईश्वर का वास (साक्षात्कार) वहीं होता है जहां हृदय निर्मल हो; भोगियों के हृदयों से ईश्वर उदास हैं अर्थात् वहाँ उनका साक्षात् दर्शन नहीं होता। यदि तुम्हें ईश्वर

के दर्शन करने हैं तो हृदय को पवित्र बनाओ। अब हृदय को पवित्र कैसे बनाया जाय उसके लिये वे आगे नीति की शिक्षा देते हैं।

शंका:—भगवन्! यह तो समझ में आ गया कि जब तक हम नीति के अनुसार मर्यादा में चल कर निष्काम भावना से अपने कर्त्तव्य पालन नहीं करेंगे तब तक अन्त:करण शुद्ध नहीं होगा और जब तक अन्त:करण शुद्ध नहीं होगा तब तक ज्ञान प्राप्त होकर ईश्वर के हृदय में दर्शन नहीं होंगे। किन्तु भगवन्! वे ईश्वर हृदय में किस प्रकार विराजमान हैं जिनका दर्शन होगा?

उत्तर:—हे तात! पहले तुम सुन आए हो कि ईश्वर कहते हैं माया-विशिष्ट-चेतन को। उसमें भी माया वाला हिस्सा परिणामी है और चेतन सदा ही एक रस व परिणाम-रहित सत् है। * ईश्वर का भी वास्तविक स्वरूप वह सत् चेतन (ब्रह्म) ही है जिसे ईश्वर-साक्षी भी कहते हैं। वह साक्षी शुद्ध चेतन हृदय में किस प्रकार विराजमान हैं यह भी सुन लो।

जितना भी संसार तुम्हें नज़र आता है वह सभी माया का परिणाम (परिवर्तित स्वरूप) है। यह सुमति (शुद्ध बुद्धि) भी माया का ही परिणाम है। इस सुमति का जो प्रकाशक अर्थात् साक्षी चेतन है वही ईश्वर का वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतन है। जिसको सुमति की उपाधि से साक्षी कह देते हैं और बिना उपाधि के ब्रह्म कहा जाता है। जिसे स्वामी श्री निश्चलदासजी महाराज ने इन शब्दों में समझाया है कि:—

"मति न लखै जिहि मति लखै"

अर्थात् जिसे मति नहीं जान सकती किन्तु जो मति को जानता है अर्थात् जो मति के प्रकाशक रूप से विद्यमान है।

---

* गोस्वामी श्री तुलसीदासजी भी उस शुद्ध चेतन परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "जो तिहुं काल एक रस रहई।"

उसी को समझाते हुए श्री हरदयालजी महाराज कह रहे हैं कि "वे मम सुमति-प्रकाश" अर्थात् वे मेरी सुमति के प्रकाशक रूप से विद्यमान हैं, उन्हें अभेद भाव से मैं नमस्कार करता हूं।

(दुवैया छन्द)

गणपति नृपवत् भक्त प्रजा के नमो कणं कर अंगीकार।
कामचोर विघ्नी बुध शशि के प्रतिदिन कर है तासु प्रहार॥
हृदय निकेत समाधि विभूति करुणा करि करि है विस्तार।
ताते मैं तिहिं करुणाकर को करों अनेक प्रकार जुहार॥२॥

कणं=कर। शशि=खेती। निकेत=घर। जुहार=नमस्कार।

अर्थः—गणेश भगवान् राजा के समान हैं।

प्रश्नः—राजा की प्रजा होती है और राजा उनकी चोरों से रक्षा करता है, कर लेता है, धन को बढ़ाता है इत्यादि सामग्री के सहित होता है। उसके समान गणेश भगवान् कैसे हैं?

उत्तरः—भक्तजन उनकी प्रजा है। उनकी नमस्कार रूपी कर स्वीकार करके, काम क्रोध लोभ मोह अहंकार आदि चोर, जो उनकी बुद्धि रूपी खेती के फलित होने में प्रतिदिन विघ्न डालते हैं उनको नष्ट करते हैं तथा हृदय रूप महल में विराजमान होकर समाधि अर्थात् ब्रह्मानन्द तथा उसके साधन ब्रह्मज्ञान रूपी ऐश्वर्य को कृपा करके बढ़ाते हैं। इसलिये मैं उस कृपासागर को अनेक प्रकार से प्रणाम करता हूँ।

शंकाः—भगवन्! क्या गणेश भगवान् ही केवल अपने भक्तों के नमस्कार को स्वीकार करके उनके बुद्धि के विघ्नकारी कामादिकों को नष्ट करके, उनके मोक्ष देने वाले ब्रह्मज्ञान को बढ़ाते अर्थात् दृढ़ करते हैं? यदि ऐसा है तो फिर जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम व कृष्णादिकों के उपासक हैं उनका मोक्ष कैसे होगा? और यदि उनकी उपासना से भी चित्त शुद्ध होकर

ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो सकता है तो फिर गणेश भगवान् को ही राजा कैसे कहा ?

उत्तर:—हे शिष्य ! वास्तव में ये सभी नाम एक ईश्वर (कारण ब्रह्म) के ही हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से उस एक ही ईश्वर के अनन्त नाम पड़ गए हैं। वे ही ईश्वर जब सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं तब ब्रह्मा कहलाते हैं, जब पालन करते हैं तब विष्णु कहलाते हैं और जब संहार करते हैं तब महेश कहलाते हैं। है वह एक ही व्यापक कारण ब्रह्म माया-विशिष्ट-चेतन। वास्तव में व्याकरण की दृष्टि से भी देखा जाय तो ब्रह्मा का अर्थ व्यापक होता है। ब्रह्मा शब्द बृह=वृद्धौ धातु से बना है। बृह+मन्=ब्रह्मा=व्यापक। विष्णु का अर्थ भी है व्यापक। [विष्लृ=व्याप्तौ विष्+नु=विष्णु=व्यापक]। और महेश का भी यही अर्थ है महाँश्चासौ ईशश्चेति महेशः अर्थात् जो सबसे महान् व्यापक होता हुआ सबका ईश=शासनकर्त्ता है वह है महेश। गणपति भी उसी ईश्वर का ही नाम है। गण अर्थात् समूह। पिण्ड में जो इन्द्रिय मन आदि का समूह है तथा ब्रह्माण्ड में जो भूत भौतिकों का समूह है उन सबका पति=स्वामी अर्थात् शासन करने वाला वह ईश्वर ही गणेश है। गणेश पुराण में तथा उसके अन्तर्गत गणेश-गीता में भी गणेश का वर्णन ईश्वर रूप से ही भगवान् श्रीवेदव्यासजी ने किया है। 'वेदान्त संग्रह' के कर्त्ता पण्डित श्रीब्रिदीचन्दजी ने गणपति का मंगलाचरण करते हुए लिखा है कि,

"प्रकृति गुण गण ईश को, ताको कहत गणेश।
बीरदीचन्द कर जोड़कर, ताको रटत हमेश।।

इस मंगलाचरण से भी श्रीब्रिदीचन्दजी ने माया के कार्य पाँच भूतों के पाँच पाँच गुणों को मिलाकर कुल पच्चीस गुणों के गण (समूह) के ईश्वर (स्वामी) को ही गणेश कहकर प्रणाम किया है। वेद में भी इस प्रकार गणेश भगवान् की स्तुति में

आया है कि "गणानां त्वा गणपतिँ हवामहे" अर्थात् समष्टि भूत भौतिक समूह के पति आप परमेश्वर का हम आह्वान करते हैं।

हे शिष्य ! राम भी उसी ब्रह्म का ही नाम है ! रामोपनिषद् में आया है कि:—

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥"

अर्थात् योगी (अभेददर्शी ज्ञानी महानुभाव) जिस अनन्त नित्य आनन्द चेतन स्वरूप में रमण करते हैं अर्थात् अभेद भाव से चिन्तन करते हैं वही परब्रह्म राम शब्द से कहा जाता है। कृष्ण शब्द का भी अर्थ समझाते हुए शास्त्र कहता है कि:—

"कृषि र्भू वाचकः शब्दो णश्च निवृत्तिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

अर्थात् कृष्ण शब्द में दो पद हैं एक कृष् दूसरा नः। (रषाभ्यां नो णः समानपदे)

अर्थात् समान पद में रकार और षकार से परे नकारको णकार हो जाता है; इस व्याकरण के नियम के अनुसार न को णकार होकर दोनों मिल कर बना है कृष्ण। कृष् शब्द का अर्थ है भू अर्थात् सत्ता=सत्। और न का अर्थ है निवृत्ति। निवृत्ति किसकी ? जिसकी हम सब चाहते हैं। हम चाहते हैं दुःखों की निवृत्ति। और दुःखों की निवृत्ति का दूसरा रूप है आनन्द की प्राप्ति। इस प्रकार 'न' का अर्थ हुआ आनन्द। दोनों को मिलाने से हुआ सदानन्द परब्रह्म वही कृष्ण नाम से कहा जाता है। शिव का भी अर्थ वही कल्याणस्वरूप परमात्मा ही है और शंकर शब्द का भी वही अर्थ है। शम्=सुखम् करोति इति शंकरः अर्थात् जो सुख को करने वाला है वही है शंकर (ईश्वर)। वेद भी कहता है "एष ह्येवानन्दयति" अर्थात् वही सबको आनन्दित

करता है मानो उसी के आभास से ही सारा संसार आनन्दित हो रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि शंकर भी उसी ईश्वर का ही नाम है। इसी प्रकार हे शिष्य ! 'विष्णु-सहस्र-नाम' में तो सहस्र नाम भी उसी एक माया-विशिष्ट-चेतन परमात्मा के ही हैं। वेद भी कहता है कि "एको देवः बहुधा सन्निविष्टिः" (तै० आ० ३।१४) अर्थात् एक ही देव (ईश्वर) अनेक प्रकार से स्थित है । काठक उपनिषद् में भी आया है कि:—

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।"

अर्थात् समस्त भूतों का एक ही अन्तरात्मा है, जो सब को वश में करने वाला है और अपने एक ही रूप को नाना प्रकार का कर लेता है। अपने अन्तःकरण में [विशेष रूप से] स्थित उस देव को जो धीर पुरुष [आत्माऽभिन्न रूप से] देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं। ऋग्वेद में भी आया है कि:—

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।"

(ऋ० सं० १/२२/१६४/४६) अर्थात् उस एक (ईश्वर) को ही ब्राह्मण लोग नाना प्रकार से कहते हैं।

"एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति"

अर्थात् उस एक (परमात्मा) की ही नाना प्रकार से कल्पना करते हैं। गीता भी कहती है कि:—

"यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।"

(१३/३०)

अर्थात् जब [कोई साधक] भूतों के पृथक् पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित देखता है और उसी से सब भूतों का

विस्तार हुआ जानता है, उस समय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। विष्णु पुराण में भी आया है कि:—

"सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं, ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥"

(विष्णु० १।२।६६)

अर्थात् वह एक ही जनार्दन भगवान् (परमेश्वर) संसार की रचना, स्थिति और संहार करने वाला ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप तीन संज्ञाओं (नामों) को प्राप्त होता है।

इस प्रकार हे शिष्य ! अनेक श्रुति, स्मृति व पुराण आदिकों के प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ये सभी उसी एक ईश्वर के ही नाम हैं। अतः यहां गणपति शब्द से भी ईश्वर को ही समझना चाहिये। वे ईश्वर ही नमस्कार आदि से प्रसन्न होकर भक्तों के हृदयों में गुरुमुख से शास्त्र श्रवण द्वारा ज्ञान उत्पन्न करवाकर मोक्षपद की प्राप्ति करवाते हैं।

शंका:—भगवन् ! ईश्वर रूपी राजा की तो सारा संसार ही प्रजा है। उसके लिए तो भक्त और अभक्त आस्तिक और नास्तिक सभी एक जैसे होने चाहियें। यदि वे भी केवल अपने अनन्य भक्तों को ही मोक्ष देते हैं तब तो साधारण प्राणियों की तरह व्यवहार का सा एक तरीका हुआ। किन्तु वे तो अकारण कृपासागर कहलाते हैं फिर केवल अपने भक्त ही उनको प्रिय क्यों लगते हैं ?

उत्तर:—वास्तव में तो उनको न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। श्रीभगवान् ने भी गीता में कहा है कि:—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।"

(९ अ० २९ श्लो०)

अर्थात् "मैं सम्पूर्ण भूतों में समान हूँ, अतः न कोई मेरा प्रिय है और न कोई अप्रिय।" और हे शिष्य ! प्रिय व अप्रिय लगना

भी मन के ही धर्म हैं। ईश्वर (कारण ब्रह्म) तो मन से भी रहित है। वेद कहता है कि:—

"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः"

अर्थात् परमात्मा प्राण रहित, मन रहित तथा शुभ्र (स्वच्छ) है। इसलिए ईश्वर के लिए तो प्रिय अप्रिय का कोई प्रश्न ही नहीं है।

शंका:–भगवन्! यदि ऐसा है तो फिर श्रीहरदयालजी महाराज कैसे कहते हैं कि (भक्त प्रजा के....) अर्थात् परमात्मारूप राजा भक्तरूप प्रजा की नमस्कार ग्रहण करके उनकी समाधिरूपी विभूति को बढ़ाते हैं और उन्हें भक्तवत्सल भी क्यों कहा जाता है? भगवान् ने भी इसी श्लोक के आगे वाले चरण में कहा है कि:—

"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।"

अर्थात् अनन्य (अभेद) भक्ति से मेरा जो कोई भजन करते हैं, वे मुझ आनन्दस्वरूप ब्रह्म में सदा अभेद भाव से रमण करते हैं और मैं उनमें [उनकी आत्मा से अभिन्न रूप से] रहता हूँ। अब भगवन्! ईश्वर को अपने भक्त ही यदि प्रिय न होते तो फिर कैसे कहते कि भक्त मुझमें रहते हैं और मैं भक्तों में रहता हूँ?

उत्तर:—हे शिष्य! वैसे तो जिस प्रकार बुद्बुदे व लहरी आदि जल में (कल्पित) हैं और जल सभी बुद्बुदों और लहरी आदिकों में (व्यापक) है उसी प्रकार सारा संसार ब्रह्म में (कल्पित) है और ब्रह्म सारे संसार में (अधिष्ठान रूप से व्यापक) है, किन्तु इस बात का ज्ञान केवल अनन्य भक्त अर्थात् ज्ञानी को ही होता है। जिस प्रकार किसी के घर में चाहे धन गढ़ा हुआ हो किन्तु उसका पता लगने पर ही वह धनवान् माना जाता है उसी प्रकार बुद्बुदे व लहरी आदि चाहे जल में (कल्पित) हैं तथा जल सभी बुद्बुदों व लहरी आदिकों में (व्यापक) है, किन्तु इस बात का

पता जिस बुद्बुदे को लग जाय वही इस वस्तुस्थिति (हकीकत) का आनंद लूट सकता है कि मैं जल में हूँ और जल मुझ में है। ठीक इसी प्रकार सारा संसार ब्रह्म (परमात्मा) में (कल्पित) है और ब्रह्म सारे संसार में (व्यापक) है, किन्तु इस बात का पता जिस अनन्य भक्त (ज्ञानी) को लग जाता है वही इस वास्तविकता का आनंद लूट सकता है कि मैं ब्रह्म में हूँ और ब्रह्म मुझ में है। इसी बात को समझाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि जो मुझे अनन्य भाव से भजते हैं, वे मुझ में हैं और मैं उन में हूँ अर्थात् इस वास्तविकता का साक्षात्कार उन्हीं को होता है।

और हे शिष्य ! इस वास्तविकता के जानने वा न जानने में कारण जिज्ञासुजनों का गुरुमुख द्वारा वेदान्त श्रवण, मनन व निदिध्यासन आदि पुरुषार्थ का करना और न करना ही है; अर्थात् उस आनंद को लूटने व न लूटने में पुरुष स्वतन्त्र है। प्रभु तो सब के लिए समान हैं। उनके स्वरूप को जानने व न जानने में हम स्वतन्त्र हैं।

शंका:—भगवन् ! श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने तो लिखा है कि:—

"सोई जानहि जिहिं देहु जनाई।"

अर्थात् "वही साधक आपके वास्तविक स्वरूप को जान पाता है जिसे आप जनवाते हैं।" तो फिर हम उनके स्वरूप जानने में स्वतन्त्र कहां रहे ?

उत्तर:—हे शिष्य ! श्रीगोस्वामीजी महाराज का तात्पर्य यह है कि बिना ईश्वर-कृपा के रामरहस्य का उद्घाटन नहीं होता और वह ईश्वर-कृपा, बिना आत्म-कृपा के नहीं होती। अर्थात् जब हम "सत्यं वद, धर्मं चर" आदि ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे तब तक ईश्वर-कृपा नहीं होगी अर्थात् तब तक अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्म-तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति नहीं

होगी। अब उस प्रभु की आज्ञा पालन करके शुभ कर्म करने अथवा न करने में हम स्वतन्त्र हैं। जैसे अग्नि तो सबके लिए समान रूप से व्यापक है किन्तु जो पुरुषार्थ करते हैं वे ही उनसे अन्धकार व शीतादि दुःखों की निवृत्ति तथा प्रकाश व पाक आदि सुखों की प्राप्ति कर सकते हैं। अग्नि के लिए तो न कोई प्रिय है, न अप्रिय। इसी बात को श्रीहरदयालजी महाराज कर रहे हैं कि गणपति (ईश्वर) तो सब के लिए समान हैं, किन्तु जो लोग उनका भजन अर्थात् निष्काम कर्म व उपासना से अन्तःकरण शुद्ध करके ब्रह्मनिष्ठ व श्रोत्रिय महानुभाव से वेदान्त का श्रवण, मनन व निदिध्यासन करते हैं उन्हीं के हृदय में ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शंकाः—भगवन् ! श्रीहरदयालजी महाराज ने वेदान्त श्रवण व मनन आदि के बारे में तो कुछ कहा ही नहीं है। उन्होंने तो कहा है कि जो भक्त केवल नमस्कार रूपी कर देते हैं उन्हीं का वे समाधि (ब्रह्मानन्द) रूप धन बढ़ाते हैं।

उत्तरः—हे तात ! नमस्कार का अर्थ है झुकना अर्थात् अगले की बात मान लेना। कहते हैं न, कि "यह इसके सामने झुक गया" अर्थात् इसने इसकी बात मान ली। और प्रभु की आज्ञा का पालन करना ही उनकी बात मानना है : और उनकी बात मानना ही उनको झुकना अर्थात् नमस्कार करना है। अपनी आज्ञाओं के बारे में बताते हुए भगवान् स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि:—

"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे"

हे अर्जुन ! श्रुति (वेद) और स्मृति मेरी आज्ञाएं हैं। और वेद कहता है कि:—

"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम् ।"

अर्थात् सत्य बोलो, अपने कर्त्तव्य का पालन करो तथा स्वाध्याय अर्थात् वेद शास्त्रों के अध्ययन से प्रमाद न करो, माने अध्ययन सदा चलता रहे। तथा:—

"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य:,
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य: ।"

अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करो, उसके लिए आत्मा का श्रवण, मनन व निदिध्यासन करना चाहिये।

इस प्रकार हे शिष्य ! ईश्वर की आज्ञा के अनुसार सत्य व्यवहार व स्ववर्णाश्रमानुसार कर्त्तव्यपालन आदि द्वारा अन्त:करण शुद्ध करके गुरुमुख द्वारा आत्मा का श्रवण मनन आदि करना रूप ईश्वर की आज्ञा को मानना ही उसे वास्तविक नमस्कार करना है। इससे अतिरिक्त बाह्य नमस्कार नम्र आदि भाव भी गौण नमस्कार मान लेना चाहिये।

इस प्रकार हे तात ! जो मनुष्य प्रभु की आज्ञा के अनुसार गुरुमुख से वेदान्त द्वारा आत्मा का श्रवण, मनन व निदिध्यासन (आत्माकार निश्चयात्मक वृत्ति का प्रवाह) करता है वह साधक ज्ञान प्राप्त करके मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

अब इस आज्ञापालन-रूपी नमस्कार का आरम्भ, कर्म और उपासना से होता है; क्योंकि पहले कर्म और उपासना (जप व ध्यानादि) से अन्त:करण शुद्ध होता है। गीता में भी आया है कि:—

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्"

(अ. १८ श्लोक ०५) अर्थात् निष्काम साधकों द्वारा किए गए यज्ञ दान व तप आदि शुभ कर्म, अन्त:करण को शुद्ध करके ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता उत्पन्न करते हैं। और फिर चित्तशुद्धि के बाद श्रवण व मनन आदि किये जाते हैं। अत: पहले कर्म का स्वरूप क्या है और कर्म किस प्रकार मर्यादानुसार किया जाय

यह उपदेश आगे श्रीहरदयालजी महाराज करेंगे। और इस प्रकार के निष्काम शुभ कर्मों में प्रवृत्ति कराने के लिए आवश्यक शुद्ध बुद्धि प्राप्त करने के लिए पहले अपना प्रार्थना-रूपी पुरुषार्थ आवश्यक है। इस बात को ध्यान में रखकर श्रीहरदयालजी ईश्वर के ही दूसरे स्वरूप श्रीसरस्वतीजी को नमस्कार करते हुए, शुद्ध बुद्धि को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

—✽—

(भुजंग-प्रयात छन्द)

नमो शारदा मात विद्याप्रदेनी।
करो मेध्य मेधा यथा कं त्रिवेनी॥
करो नष्ट मोहादि शांत्यादि दीजै।
हरो आपकारी हृदै धाम कीजै॥ ३॥

शब्दार्थ:—मेध्य=पवित्र। मेधा=बुद्धि। कं=जल। त्रिवेनी=प्रयागराज जहां गंगा, यमुना और सरस्वती का समागम है। आपकारी=पाप।

अर्थ:—हे विद्या प्रदान करने वाली माता सरस्वती! आपको मेरा नमस्कार है। मेरी बुद्धि को त्रिवेणी के जल की तरह स्वच्छ व पवित्र करो। [पवित्रता का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं] बुद्धि के मोहादि विकार नष्ट करो और उसमें शान्ति आदि सद्गुण प्रदान करो। तथा हे विद्यादेवी! मेरे पापों को नष्ट करके मेरे हृदय में आप आकर निवास करो।

दोहा—अथ श्रीसारुक्तावली, भाषा कृत हरद्याल।
वर्ण अर्थ के दोष को, बुधजन पढ़ो संभाल॥४॥

अर्थः—अब श्रीसारुक्तावली का आरम्भ होता है। जिसको श्रीहरदयालजी महाराज ने हिन्दी भाषा में बनाया है। बुद्धिमान् पुरुष अक्षर और अर्थ की गलती को सुधार कर पढ़ें।

दोहा—नव घट द्वै शत मूलवृत, पंद्रह तिहिं अध्याय।
कंठ धरै जड़ता हरै, मंगल अंग लगाय ॥५॥

शब्दार्थः—मूलवृत=संस्कृत के श्लोक।

अर्थः—इसके मूल संस्कृत के श्लोक नव (९) कम दो सौ अर्थात् १९१ हैं। इनके (हिन्दी में) पन्द्रह अध्याय बनाए हैं। जो इनको कण्ठस्थ करेगा उसकी मूर्खता नष्ट होगी और जो इनको अंग (शरीर व मन) से लगाएगा अर्थात् जो इनके अनुसार आचरण करेगा उसका कल्याण होगा अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान की योग्यता प्राप्त होगी।

दोहा—भाषा सारुक्तावली, सूक्तावली सु मूल।
केचित् भाषैं सभाजित, तृतीय नाम अनुकूल ॥६॥

शब्दार्थः—सभाजित=सभा को जिताने वाली।

अर्थः—हिन्दी में इसको सारुक्तावली कहते हैं। संस्कृत में इसका नाम सूक्तावली है। कुछ पण्डित लोग इसे सभाजित नाम से भी कहते हैं। यह तीसरा नाम भी इस पुस्तक के अनुकूल ही है।

(शार्दूल-विक्रीडित)

धर्मः सर्वसुखाकारो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्ति परः सुहृद्भवभृतां, धर्मस्य तत्त्वं परं।
धर्मे चित्तमहं दधे सुमनसा, हे धर्म! मां पालय ॥१॥

धर्मः=धर्म
सर्वसुखाकरः=सब सुखों की खान (और)
हितकरः=हित को करने वाला
(अस्ति)=है
बुधाः=ज्ञानवान्
धर्मं=धर्म को
चिन्वते=सञ्चित करते हैं
धर्मेण=धर्म से
एव=ही
शिवसुखं=कल्याण और सुखादि
समाप्यते=प्राप्त होते हैं
तस्मै=उस
धर्माय=धर्म के लिए
नमः=नमस्कार हो
धर्मात्=धर्म से
परः=बढ़कर
भवभृतां=प्राणियों का
सुहृत्=मित्र
नास्ति=नहीं है
धर्मस्य=धर्म का
तत्त्वं=स्वरूप
परम्=सब से श्रेष्ठ
(अस्ति)=है
अहं=मैं
सुमनसा=श्रद्धा से
धर्मे=धर्म में
चित्तम्=चित्त को
दधे=लगाता हूं
हे धर्म !=हे धर्म !
मां पालय=मेरी रक्षा करो ।

(छप्पय छन्द)

धर्म सर्व सुख खान जान सबको हितकारी ।
धर्म धरैं बुधिमान निरंतर चित मंझारी ।।
धर्म शान्ति सुख हेतु निखिल किल कलिमल खोवत ।
तीन देव के देश धर्म करि प्रापत होवत ।।
दश अष्ट नरक कुष्टनि विषे धर्म विमुख नर नीत गम ।
है धर्म सार संसार में ताते धर्म नमामि मम ।।७।।

शब्दार्थः—किल=निश्चय करके । कलिमल=कलियुग के पाप । कुष्टनि=दुःख । नीत=सदा । गम=जाते हैं ।

अर्थः—धर्म (स्वकर्त्तव्यपालन) को सर्व सुखों की खान तथा सभी का हित करने वाला समझो । बुद्धिमान् लोग धर्म को

सदा हृदय में धारण करते हैं। धर्म शान्ति और सुख का कारण है और निश्चय ही सारे कलियुग के पापों को नष्ट करता है। धर्म से ही, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोक तीनों लोकों की प्राप्ति होती है। जो नर धर्म से विमुख हैं वे अठारह प्रकार के [१–ताम्सर, २–अन्ध ताम्सर, ३–रुद्रव, ४–महारुद्रव, ५–काल सूत्र, ६—कुम्भीपात, ७—असपत्र, ८—शूकरमुख, ९—अन्धकूप, १०–क्रमी भोजन, ११–सन्दशन, १२—वज्र कण्टक (शाल पर्वत), १३—लालाभुज, १४—विश्वासन, १५—सारम्यादन, १६–पशवां, १७—छहारकर्दम्, १८—रच्छागन भोजन।] नरकों के कष्टों को सदा प्राप्त होते रहते हैं। संसार में सार वस्तु एक धर्म ही है अतः मैं धर्म को नमस्कार करता हूँ।

चौपाई—आन सुहृद नहीं धर्म बिना जन।
संत जनन को सही धर्म धन॥
धर्म धरौं मैं नित चित अन्तर।
मोहि पालै है धर्म निरन्तर॥८॥

शब्दार्थः—सुहृद=मित्र। सही=सच्चा।

अर्थः—हे नर! धर्म बिना और कोई उत्तम मित्र नहीं है। महापुरुषों का धर्म ही सच्चा धन है। अतः मैं धर्म को सदा हृदय में धारण करता हूँ। धर्म ही सदा मेरा पालन करता है।

दोहा—अथ प्रथमे दश छन्द करि, वरण्यो धर्म मनाक।
धर्म स्वरूप निमित्त वृधि, इस्थिति नष्ट विपाक॥९॥

शब्दार्थः—मनाक=थोड़ा। विपाक=फल।

अर्थ—अब पहले अध्याय में दश श्लोक बनाकर धर्म का थोड़ा सा वर्णन करता हूँ। इसमें धर्म का स्वरूप, उसकी उत्पत्ति का कारण, उसकी वृद्धि, स्थिति, नाश और फल का वर्णन होगा।

—०—

अथ प्रथमोऽध्यायः

(अनुष्टुप् छन्द)

धर्मस्य तस्य लिंगानि दया क्षान्तिरहिंसनम् ।
तपो दानं च शीलं च सत्यं शौचं वितृष्णता ।।२।।

दय=दया
क्षान्तिः=क्षमा
अहिंसनं=अहिंसा
तपः=तप
दानं=दान
च=और
शीलं=सुन्दर स्वभाव
च=और
सत्यं=सत्य भाषण
शौचं=पवित्रता
वितृष्णता=सन्तोष (ये)
तस्य=उस
धर्मस्य=धर्म के
लिंगानि=चिन्ह
(सन्ति)=हैं

दोहा—क्षमा अहिंसा दया मृदु, सत्य वचन तप दान ।
शील शौच तृष्णा बिना, धर्म लिंग दश जान ।।२।।

शब्दार्थः—लिंग=चिन्ह ।

अर्थ:—शान्ति, मन, शरीर व वाणी से किसी को न दुखाना, दु:खियों पर दया करना, कोमल व नम्र स्वभाव, सत्य बोलना, तप अर्थात् अपने कर्तव्यपालन करने में जो कष्ट आवें उन्हें सहन करना, सत्पात्र को दान देना, सदाचार व्रत का पालन करना, शुद्धता व पवित्रता रखना, भोग और बढ़ जायँ इस प्रकार की तृष्णा का अभाव, ये दश धर्म के चिन्ह समझो; अर्थात् ये दश जिनमें हों उन्हें पूर्ण धर्मात्मा समझना चाहिये।

(अनुष्टुप्)

सत्यादुत्पद्यते धर्मो, दयादानाद्विवर्द्धते।
क्षमया तिष्ठते धर्मः, क्रोधाद्धर्मो विनश्यति ।।२।।

सत्यात्=सत्य से	क्षमया=क्षमा से
धर्मः=धर्म	धर्मः=धर्म
उत्पद्यते=उत्पन्न होता है	तिष्ठते=स्थिर रहता है
दयादानात्=दयादान से (धर्म)	क्रोधात्=क्रोध से
	धर्मः=धर्म
विवर्द्धते=बढ़ता है	विनश्यति=नष्ट होता है।

चौपाई

उपजे धर्म वाक्य सत करि अति,
दया दान करि धर्म बढ़ै निति।
इस्थित धर्म क्षमा के संगा,
धर्म क्रोध करि होत विभंगा ।।२।।

शब्दार्थ:—विभंगा=नष्ट ।

अर्थ:—सत्य भाषण से धर्म की उत्पत्ति होती है, दया व दान करने से धर्म की वृद्धि होती है, क्षमा से धर्म स्थित रहता है और क्रोध से धर्म नष्ट होता है।

(अनुष्टुप्)

राज्यं च सम्पदो भोगाः, कुले जन्म सुरूपता ।
पाण्डित्यमायुरारोग्यं, धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥३॥

राज्यं=राज्य
संपदः=सम्पत्ति
भोगाः=भोग
कुले=उत्तम कुल में
जन्म=जन्म
सुरूपता=सौन्दर्य
पाण्डित्यम्=चतुराई अथवा (विद्वत्ता)

आयुः=आयु
आरोग्यम्=नीरोगता
एतत्=यह
(सर्वं)=सब
धर्मस्य=धर्म का
फलम्=फल
विदुः=[ज्ञानी लोग] जानते हैं ।

दोहा—शुभकुलजन्म सुरूप तनु, भूप भोग संपत्ति ।
पंडित देह अरोग पुनि, धर्मजात फल सत्ति ॥३॥

अर्थः—उत्तम कुल में जन्म लेना, सुन्दर शरीर की प्राप्ति, राजाई, भोग व संपत्ति प्राप्त करना, विद्वत्ता बुद्धिमत्ता व निरोग शरीर प्राप्त करना, ये धर्म से उत्पन्न होने वाले सत्य फल हैं ।

(अनुष्टुप्)

धर्मे रागः श्रुतेश्चिन्ता, दाने व्यसनमुत्तमम् ।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं, संप्राप्तं जन्मनः फलम् ॥४॥

धर्मे=धर्म में
रागः=प्रीति
श्रुतेः=वेद का
चिन्ता=विचार
दाने=दान के विषय में
उत्तमम्=उत्तम
व्यसनम्=लगन

इन्द्रियार्थेषु=इन्द्रियों के विषय रूपादि में
वैराग्यम्=वैराग्य (जिसे हो, उसने)
जन्मनः=जन्म का
फलम्=फल
संप्राप्तम्=प्राप्त कर लिया ।

चौपाई

धर्म प्रीति नित वेद विचारे,
उत्तम दान स्वभाव जु धारे।
इन्द्रिय-अर्थ विरागहि मन जिहिं,
जिहिं इह प्रापत सफल जन्म तिहिं ॥४॥

अर्थः—जिसका सदा धर्म में प्रेम, वेदों का विचार, सत्पात्र में दान देने का स्वभाव हो और विषयों के बारे में मन में वैराग्य हो उसका इस संसार में जन्म सफल है।

(अनुष्टुप्)

यथा चन्द्रं विना रात्रिः, कमलेन सरोवरम्।
तथा न शोभते जीवो, विना धर्मेण सर्वथा ॥५॥

यथा=जिस प्रकार
चन्द्रं विना=चन्द्रमा के बिना
रात्रिः=रात्रि
न शोभते=शोभा नहीं देती
कमलेन [विना]=कमल के बिना
सरोवरम्=तालाव
[न शोभते]=शोभा नहीं देता
तथा=उसी प्रकार
धर्मेण विना=धर्म के बिना
जीवः=जीव
सर्वथा=किसी भी प्रकार
[न शोभते]=शोभा नहीं पाता।

दोहा—इन्दु बिना ज्यों मन्द निशि, मंद कंज बिन ताल।
जीव मन्द त्यों धर्म बिन, ताते धर्म न टाल ॥५॥

शब्दार्थः—इन्दु=चन्द्रमा। निशि=रात्रि। कंज=कमल। ताल=तालाव।

अर्थः—जिस प्रकार चन्द्रमा बिना रात्रि, कमलों के बिना तालाव शोभा नहीं देता उसी प्रकार यह जीव धर्म के बिना शोभा नहीं देता, इसलिये धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये।

(अनुष्टुप्)

क्षान्तेः समं तपो नास्ति, सन्तोषान्नापरं सुखम्।
नास्ति विद्यासमं दानं, नास्ति धर्मो दयापरः ॥६॥

क्षान्तेः=क्षमा के	नास्ति=नहीं है
सामं=बराबर	विद्यासमं=विद्या के समान
तपः=तप	दानं=दान
नास्ति=नहीं है	नास्ति=नहीं है
सन्तोषात्=सन्तोष से	दयापरः=दया से श्रेष्ठ
अपरं=दूसरा (अधिक)	धर्मः=धर्म
सुखम्=सुख	नास्ति=नहीं है

———

दोहा—सम सन्तोष न और सुख, तप न क्षमा सम जान।
ब्रह्मज्ञान सम दान नहिं, धर्म न दया समान ॥६॥

अर्थः—सन्तोष के समान कोई और सुख नहीं है, क्षमा [क्षमा=सामर्थ्य रहते हुए भी बदले की भावना न रखना] के समान कोई और तप नहीं है, आत्मज्ञान प्रदान करने के समान कोई और दान नहीं है और दया के समान कोई और धर्म नहीं है।

(अनुष्टुप्)

धर्मार्थकाममोक्षाणां, यस्यैकोऽपि न जायते।
अजागलस्तनस्येव, तस्य जन्म निरर्थकम् ॥७॥

यस्य=जिस मानव का
धर्मार्थकाममोक्षाणाम्=धर्म, अर्थ, काम (इच्छा), मोक्ष इन चारों में से (यदि)
एकः=एक
अपि=भी
न=नहीं
जायते=सिद्ध होता है (तो)

तस्य=उसका
जन्म=जन्म
अजागलस्तनस्य=बकरी के गले में (वृथा) उत्पन्न होने वाले स्तन की
इव=तरह
निरर्थकम्=निष्फल
(अस्ति)=है

———

दोहा—चारों फल में एक भी, उपजे हृदय न जासु।
अजागले के कुचन ज्यों, जन्म व्यर्थ है तासु ॥७॥

शब्दार्थः—अजा=बकरी। कुचन=स्तन।

अर्थः—जिसके हृदय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलों (पुरुषार्थों) में से एक भी उत्पन्न नहीं होता, उसका जन्म बकरी के गले में उत्पन्न होने वाले बिना दूध के निरर्थक स्तनों की तरह व्यर्थ है।

(अनुष्टुप्)

धर्मः पाश्र्वे हि वै नित्यं, चतुर्वर्गफलप्रदः।
अतो यथा तथा धर्मं, धारयेद्बुद्धिमान्नरः ॥८॥

चतुर्वर्गफलप्रदः=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार फलों को देने वाला
धर्मः=धर्म
हि वै=निश्चय ही
नित्यं=सदा
पाश्र्वे=पास में

(अस्ति)=है
अतः=इसलिये
बुद्धिमान्=बुद्धिमान्
नरः=पुरुष
यथा तथा=जैसे भी हो सके वैसे
धर्मं=धर्म को
धारयेत्=धारण करे

———

दोहा—धर्म परम पारस अहै, जो दायक फल चार।
तातें ज्यों त्यों धर्म को, धरै जु बुद्धि उदार ॥८॥

अर्थः—धर्म परम पारस (स्वर्ण बनाने वाला पत्थर विशेष, अथवा समीप) है, जो ऊपर कहे हुए चारों फलों को देता है। इसलिए जिस प्रकार भी हो सके, श्रेष्ठ बुद्धि वाले धर्म को धारण करें।

(शार्दूल-विक्रीडित)

नागो भाति मदेन कं जलरुहैः, पूर्णेन्दुना शर्वरी।
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो, नित्योत्सवैर्मन्दिरम् ॥
वाणी व्याकरणेन हंसमिथुनै, र्नद्यः सभा पण्डितैः।
सत्पुत्रेण कुलं नृपेण वसुधा, लोकत्रयं धार्मिकैः ॥९॥

नागः=हाथी
मदेन=मद से
भाति=शोभित होता है (और)
कं=जल
जलरुहैः=कमलों से
शर्वरी=रात्रि
पूर्णेन्दुना=पूर्ण चन्द्रमा से
प्रमदा=स्त्री
शीलेन=सदाचार से
तुरगः=घोड़ा
जवेन=शीघ्र गति से
मन्दिरम्=घर
नित्योत्सवैः=सदा होने वाले उत्सवों से

वाणी=वाणी
व्याकरणेन=व्याकरण से
नद्यः=नदियां
हंसमिथुनैः=हंसों के जोड़ों से
सभा=सभा
पण्डितैः=पण्डितों से
कुलं=कुल
सत्पुत्रेण=श्रेष्ठ पुत्र से
वसुधा=पृथ्वी
नृपेण=राजा से (और)
लोकत्रयम्=तीनों लोक
धार्मिकैः=धार्मिक पुरुषों से (शोभा पाते हैं)

(कवित्त)

नाग शोभे मदकर नीर शोभे इन्दीवर,
रैन शोभे हिमकर नारी शील रति ते ।
शोभत तुरंग जव धाम शोभे उतसव,
शोभे व्याकरण रव नदी हंसगति ते ।।
सभा शोभे विद्यावान कुल शोभ सुसंतान,
पाणी शोभे करै दान क्षिति क्षितिपति ते ।
मूढ़ शोभे करै मौन शिखी शोभे परै हौन,
शोभे अतिशै त्रिभौन धरमी सुमति ते ।।६।।

शब्दार्थः—नाग=हाथी । मद=मस्ती । इन्दीवर=कमल । रैन=रात्रि । हिमकर=चन्द्रमा । रति=प्रेम । तुरंग=घोड़ा । जव=वेग । धाम=घर । रव=वाणी । पाणी=हाथ । क्षिति=पृथिवी । क्षितिपति=राजा । शिखी=अग्नि । हौन=हवन । त्रिभौन=तीनों लोक ।

अर्थः—जैसे हाथी मस्ती आने पर शोभा पाता है, पानी कमलों से, रात्रि चन्द्रमा से, स्त्री पतिव्रत धर्म व प्रीति से, घोड़ा अच्छी व तेज चाल से, घर उत्सवों से, वाणी व्याकरण से, नदी हंस जैसी धीमी चाल से अथवा ऊपर हंसों के तैरने से, सभा विद्वान् से, वंश सुपात्र सन्तान से, हाथ दान करने से, पृथ्वी राजा से, मूर्ख विद्वत्सभा में मौन रहने से, अग्नि हवन से सुशोभित होती है और तीनों लोक श्रेष्ठ बुद्धि वाले धर्मात्मा से अतिशय शोभा को प्राप्त होते हैं ।

(आर्या)

सुखितस्य दुःखितस्य च, संसारे धर्म एव तव कार्यः ।
सुखितस्य तदभिवृद्धयै, दुःखभुजस्तदुपघाताय ।।१०।।

सुखितस्य=सुखी
च=अथवा
दुःखितस्य=दुःखी
तव=तुम्हारा
संसारे=संसार में
धर्मः=धर्म
एव=ही
कार्यः=कर्तव्य है

सुखितस्य=सुखी का
तदभिवृद्धये=उस सुख की वृद्धि के लिये
दुःखभुजः=दुःखी का
तदुपघाताय=उस दुःख की निवृत्ति के लिये [धर्म कर्तव्य है]

दोहा—सुखी दुखी नर जगत में, धर्म करैं सब कोइ।
सुखी करै तब सुख बढ़ै, दुखी करै दुख खोइ ॥१०॥

अर्थः—संसार में सुखी दुःखी दोनों प्रकार के लोग हैं। और धर्म सभी के लिए आवश्यक है। यदि सुखी पुरुष धर्म पर चलेगा तो उसका सुख बढ़ेगा और दुःखी यदि धर्माचरण करेगा तो उसका दुःख नष्ट होगा।

दोहा—सप्त दोहे द्वय चौपाई, उत्तम एक कवित्त।
दशों छन्द आनन्दमय, बसैं जिसे नित चित्त ॥२॥

अर्थः—इस अध्याय में सात दोहे, दो चौपाई व एक श्रेष्ठ कवित्त है। ये दश छन्द जिसके हृदय में सदा रहते हैं उसके लिये आनन्ददायक हैं।

दोहा—इति श्रीसारुक्तावली, तासु प्रथम अध्याय।
धर्म निरूप्यो ताहि में, कवि हरद्याल सुभाय ॥२॥

शब्दार्थः—सुभाय=प्रेमपूर्वक।

अर्थः—अब शिक्षाप्रद और सुन्दर वचनों की माला-रूप श्रीसारुक्तावली का पहला अध्याय समाप्त हुआ, जिसमें कवि श्रीहरदयालजी ने प्रेमपूर्वक धर्म का वर्णन किया।

इति प्रथमोऽध्यायः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

दोहा—गुरु की कीरति दूसरे, सात श्लोक उचार ।
जाके सुने अध्ययन ते, होंहि त्रिताप प्रहार ॥२॥

अर्थ:—दूसरे अध्याय में सात श्लोकों का उच्चारण करके गुरु की महिमा का वर्णन करते हैं, जिसके सुनने व धारण करने से तीनों प्रकार के ताप [आध्यात्मिक=स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर में होने वाले ज्वर व भूख-प्यास आदि दुःख। आधिभौतिक=सिंह, सर्प व चौरादिकों से होने वाले भय आदि दुःख । आधि-दैविक=ग्रह, आँधी, भूकंप आदि दैव से उत्पन्न होने वाले दुःख] नष्ट होते हैं ।

(अनुष्टुप्)

धनोपयोगः सत्पात्रे, यस्यैवास्ति स पण्डितः ।
गुरुशुश्रूषया जन्म, चित्तं सद्ध्यानचिन्तया ॥२॥

यस्य=जिस पुरुष का
धनोपयोगः=धन का व्यय
सत्पात्रे=सत्पात्र में
अस्ति=है
जन्म=जन्म
गुरुशुश्रूषया=गुरु की सेवा से (बीतता है)

चित्तं=चित्त
सद्ध्यानचिन्तया=सद् ब्रह्म के ध्यान चिन्तन से (युक्त है)
सः=वह
एव=ही
पण्डितः=पण्डित (है)

दोहा—द्रव्य खरच सत्पात्र में, जन्म जाय गुरुसेव।
हरि सुमिरण महं चित्त जिहिं, वह पंडित श्रुतिभेव ॥१॥

शब्दार्थ:—श्रुतिभेव=वेद की साक्षात् मूर्ति है।

अर्थ:—जो सत्पात्र में धन का व्यय करता है और जीवन को गुरुसेवा में अर्पण करता है अर्थात् गुरु की आज्ञा के अनुसार समाज आदि की सेवा में अपना जन्म सफल करता है, तथा ब्रह्म-चिन्तन (आत्म-चिन्तन) में जिसका मन है वही वेद के अनुसार वास्तविक पण्डित है।

(अनुष्टुप्)

प्रष्टव्या गुरवो नित्यं, ज्ञातमर्थमपि स्वयम्।
स तैर्निश्चयमानीतो, ददाति परमं सुखं ॥२॥

स्वयम्=अपने आप
ज्ञातम्=जाने हुए
अर्थम्=अर्थ को
अपि=भी
(उद्दिश्य)=लक्ष्य करके
नित्यम्=सदा
गुरवः=गुरुजन
प्रष्टव्याः=पूछने योग्य हैं

तैः=उन गुरुजनों द्वारा
निश्चयम्=निश्चय को
आनीतः=प्राप्त हुआ
सः=वह अर्थ
परमम्=निरतिशय
सुखम्=आनन्द को
ददाति=देता है

चौपाई

पूछे गुरुते शुभ शिष तद्यपि,
ज्ञानवंत होवे निज यद्यपि।
गुरु निश्चय युत वचन धरे जब,
होय शिष्य को परम शान्ति तब ॥२॥

शब्दार्थ:—युत=सहित।

अर्थः—आज्ञाकारी शिष्य यद्यपि ज्ञानवान् हो जाय, फिर भी गुरुजनों से पूछता रहे। जब शिष्य गुरु द्वारा निश्चय करके वचनों को हृदय में धारण करता है तब उसे परम शान्ति अर्थात् संशय व विपरीत भावना रहित पूर्ण निष्ठा प्राप्त होती है।

(अनुष्टुप्)

प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः, परोक्षे मित्र-बान्धवाः।
कर्मान्ते दास-भृत्याश्च, न च पुत्रा न च स्त्रियः ॥३॥

गुरवः=गुरुजन
प्रत्यक्षे=सामने
मित्र-बान्धवाः=मित्र तथा बन्धु-जन
परोक्षे=पीछे से
च=और
दासभृत्याः=सेवक और नौकर
कर्मान्ते=काम करने के बाद
स्तुत्याः=प्रशंसा करने योग्य हैं
च=परन्तु
पुत्राः=पुत्र
च=और
स्त्रियः=स्त्रियां
न स्तुत्याः=प्रशंसा करने योग्य नहीं होते अर्थात् उन्हें मन ही मन में धन्यवाद देना चाहिये।

———

(तोटक छन्द)

गुरु कीरति को अपरोक्ष करै,
यश बांधव मीत परोक्ष ररै।
भृत दास जसे करमांत गहे,
अबला सुत ओप कबी न कहै ॥३॥

शब्दार्थः—अपरोक्ष=सामने। परोक्ष=पीछे। ओप=प्रशंसा।

अर्थः—गुरु की प्रशंसा सामने करे, मित्र और बन्धुओं की प्रशंसा उनके पीछे से करे, नौकर व शिष्य की प्रशंसा (धन्यवाद रूप से) कार्य करने के पश्चात् करे, स्त्री व पुत्र की प्रशंसा कभी

नहीं करनी चाहिये [केवल हृदय में धन्यवाद व आशीर्वाद देना चाहिये ।]

(अनुष्टुप्)

गुरोरवज्ञया मृत्यु, र्मन्त्रत्यागाद्दरिद्रता ।
गुरुमंत्रपरित्यागी, सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत् ।।४।।

गुरोः=गुरु का
अवज्ञया=अपमान करने से
मृत्युः=मृत्यु (होती है)
मन्त्रत्यागात्=गुरुमन्त्र को छोड़ देने से
दरिद्रता=दरिद्रता (प्राप्त होती है)

गुरुमन्त्र-परित्यागी=गुरु और मन्त्र दोनों को छोड़ देने वाला
सिद्धः=सिद्ध पुरुष
अपि=भी
नरकं=नरक को
व्रजेत्=जाता है

दोहा—तजि गुरुमन्त्र दरिद्र व्है, गुरुहि अवज्ञा घात ।
त्यागि देत गुरुमन्त्र जो, सिद्ध भि नरकहि जात ।।४।।

शब्दार्थः—अवज्ञा=अपमान । घात=मृत्यु ।

अर्थः—गुरु के मन्त्र (बताए हुए रहस्य) को छोड़ देने से दरिद्रता होती है, गुरु का अपमान मृत्यु-तुल्य है, गुरु और मन्त्र को जो त्याग देता है वह सिद्ध भी नरक को जाता है ।

(अनुष्टुप्)

गुरुद्रव्यापहर्तृृणां, तेजोहानिर्दरिद्रता ।
दुर्मृत्युश्च महारोगो, धनहानिः सदा भवेत् ।।५।।

गुरुद्रव्यापहर्तॄणाम्=गुरु के धन को चुराने वालों की
सदा=सर्वदा
दरिद्रता=निर्धनता
तेजोहानिः=तेज की क्षति
महारोगः=भयंकर व्याधि
धनहानिः=धन की हानि
च=और
दुर्मृत्युः=अन्त में अधोगति
भवेत्=होती है

(तोटक छन्द)

गुरु के धन को जन जो हरि हैं,
हत तेज विभूति दुःखी मरि हैं।
धर्मादि टरैं नरकै सुपरैं,
उपजैं पुनि ते श्वपचादि घरैं ॥५॥

शब्दार्थः—टरैं=नष्ट होते हैं। श्वपचादि=चांडालादि।

अर्थः—जो व्यक्ति गुरु के धन को चुराता है उसका तेज और धनादि ऐश्वर्य नष्ट होता है और वह दुःखी होकर मरता है। उसके धर्म आदि सद्गुण नष्ट होते हैं और वह नरक में पड़ता है फिर वह चांडाल आदि नीच घरों में जन्म लेता है।

(अनुष्टुप्)

दुर्भगो विकलो मूर्खो, निर्विवेको नपुंसकः।
नीचकर्मकरो नीचो, गुरु-दूषण-कारकः ॥६॥

गुरुदूषणकारकः=गुरुजनों की निन्दा करने वाला
नीचः=नीच
दुर्भगः=भाग्यहीन
विकलः=व्याकुल
मूर्खः=मूढ़
निर्विवेकः=विवेक रहित
नपुंसकः=नपुंसक (और)
नीचकर्मकरः=नीच कर्मों को करने वाला
(भवति)=होता है

दोहा—मुग्ध नपुंसक विकलमन, बिन विवेक दुर्भाग ।
नीच कर्म नीचहि करै, गुरु-निंदा में राग ।।६।।

अर्थः—जिसका सद्गुरु की निन्दा में राग है वह मनुष्य मूर्ख, नपुंसक, चिन्ताओं से व्याकुल, अविवेकी, भाग्यहीन व नीच कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ अति नीच ही होता है ।

(अनुष्टुप्)

अज्ञान-तिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।७।।

येन=जिसने
अज्ञानतिमिरान्धानां = अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धे
चक्षुः=मनुष्यों के नेत्र
ज्ञानाञ्जनशलाकया=ज्ञान रूपी अञ्जन (सुरमे) की सलाई से
उन्मीलितम्=खोल दिये हैं
तस्मै=उस
श्रीगुरवे=श्रीगुरुमहाराज के लिये
नमः=नमस्कार (हो)

चौपाई

ज्ञानशलाका दे बुधि लोचन,
कर है तम अज्ञान विमोचन ।
निरावर्ण दृग करै जु श्रीगुर,
नमो नमो तिहि चरण धारि उर ।।७।।

शब्दार्थः—शलाका=सलाई । निरावर्ण=आवरण-(पर्दे) रहित । दृग=नेत्र । उर=हृदय ।

अर्थः—सद्गुरु महाराज बुद्धिरूपी नेत्रों में ज्ञानरूपी सुरमे की सलाई लगा कर अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करते हैं। अतः जो सद्गुरु मेरे बुद्धिरूपी नेत्रों के अज्ञानरूपी पर्दे को हटाते हैं उनके चरणों [वाणी के चरणरूपी वचनों] को हृदय में धारण करके उन्हें बार-बार नमस्कार करता हूँ।

दोहा—त्रय दोहा त्रोटक उभय, दो चौपई निहार।
मुनि श्लोक मन शोक को, काटैं करैं न बार ॥१॥

शब्दार्थः—उभय=दो। निहार=देखो वा जानो। मुनि=सात। बार=देरी।

अर्थः—इस अध्याय में तीन दोहे, दो तोटक छन्द और दो चौपाई जानो। ये सात श्लोक मन के शोक को निवृत्त करने में देरी नहीं लगाते।

दोहा—इति श्रीसारुक्तावली, तासु द्वितीय अध्याय।
गुरु-उपमा तामें कही, हरदयाल हित लाय ॥२॥

शब्दार्थः—लाय=के लिए।

अर्थः—श्रीसारुक्तावली का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ, जिसमें श्रीहरदयालजी महाराज ने जनकल्याण के लिए गुरु की महिमा का वर्णन किया है।

इति द्वितीयोऽध्यायः

अथ तृतीयोऽध्यायः

दोहा—विद्या वर्णौं तीसरे, छन्द अठाई मान।
विद्यापात्र अपात्र पुनि, वृद्धाऽवृद्ध-निदान ।।१।।

शब्दार्थः—वृद्धावृद्ध=बढ़ना व घटना। निदान=कारण।

अर्थः—अब तीसरे अध्याय में २८ अठाईस श्लोकों से विद्या का वर्णन करते हैं, जिसमें विद्या के पात्र और अपात्र तथा विद्या के बढ़ने व कम होने के कारणों का वर्णन होगा।

(आर्या)

ज्ञानं मददर्पहरं, माद्यति यस्तेन तस्य को वैद्यः।
अमृतं यस्य विषायति, तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ।।२।।

ज्ञानं=आत्मज्ञान
मददर्पहरं=मद और अभिमान को नष्ट करने वाला
(भवति)=होता है [किन्तु]
यः=जो [मूर्ख]
तेन=उस ज्ञान से [भी]
माद्यति=अभिमान को प्राप्त होता है
तस्य=उसका
कः=कौन
वैद्यः ?=चिकित्सक [बन सकता है ?]
यस्य=जिसको
अमृतम्=अमृत [भी]
विषायति=विष के समान लगे
तस्य=उसका
चिकित्सा=इलाज
कथं=कैसे
क्रियते ?=किया जाय ?

(सवैया)

यह वेद को ज्ञान सुजानन के,
अभिमान मदादि विकार विनासै।
पुनि केचित् नीचन को बहु बोध,
मदै अभिमान विकार निवासै॥
अँच अमृत जासु हलाहल व्है,
नहिं औषध वैद्य नहीं कछु तासै।
जन पात्र अपात्र को शोध के बोध,
करै बुद्धिमान जु बोध प्रकाशै॥२॥

शब्दार्थ:—अँच=पीना।

अर्थ:—यह वेद शास्त्रों का ज्ञान श्रेष्ठ बुद्धि वालों के अहंकार व अभिमान आदि विकारों को नष्ट करता है। किन्तु कुछ नीच पुरुषों को [बिना ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा के प्राप्त किया हुआ] अधिक शास्त्रों का भी ज्ञान, और अधिक मद व अभिमान आदि विकारों को उत्पन्न करता है। जैसे किसी को अमृत भी पीने से विष हो के लगे उसके लिये तो संसार में न कोई वैद्य है और न कोई औषधि है। अत: बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि पात्र और कुपात्र की पहचान करके सत्पात्र को ही उपदेश देवे, जिससे वह उपदेश फलदायक हो।

(अनुष्टुप्)

आहारो मैथुनं निद्रा, स्वाध्यायेषु प्रवर्तनम्।
चत्वारि खलु कर्माणि, सन्ध्याकालेषु वर्जयेत्॥२॥

आहार:=भोजन
मैथुनं=मैथुन
निद्रा=नींद [और]
स्वाध्यायेषु=वेदादि के पढ़ने में
प्रवर्तनम्=प्रवृत्ति
(एतानि)=ये
चत्वारि=चार
कर्माणि=काम

खलु=निश्चय करके
संध्याकालेषु=सन्ध्या के समयों में
वर्जयेत्=छोड़ देने चाहियें अर्थात् नहीं करने चाहियें।

(सोरठा)

मैथुन शयन अहार, पाठ समय तीनों तजै।
पाठ-सहित पुनि चार, तजै सांझ में धीर जन ।।२।।

शब्दार्थ:—सांझ=सन्ध्याकाल।

अर्थ:—भोग-विलास, सोना और भोजन करना ये तीनों, पाठ पढ़ने के समय छोड़ देने चाहियें। और पाठ समेत चारों ही सायंकाल को बुद्धिमान् मनुष्य को छोड़ देने चाहियें।

(अनुष्टुप्)

अलसो मन्द-बुद्धिश्च, सुखी च व्याधि-पीडितः।
निद्रालुः कामुकश्चैव, षडेते शास्त्र-वर्जिताः ।।३।।

अलसः=आलसी
मन्दबुद्धिः=जिसकी बुद्धि मन्द हो
च=और
सुखी=सुखी
व्याधि-पीडितः=बीमार
च=और
निद्रालुः=अधिक सोने वाला
च=और
कामुकः=कामी
एते=ये
षट्=छः
शास्त्र-वर्जिताः=शास्त्र-विद्या से रहित
(भवन्ति)=होते हैं।

—*—

दोहा—सुखी वियाधी आलसी, रसिक कुमति बहु सोइ।
तिहिं अधिकार न शास्त्र को, षट दोषी जन जोइ ।।३।।

शब्दार्थ:—वियाधी=रोगी ।

अर्थ:—अधिक विषय पदार्थों के कारण सुखी (उनमें सुख मानने वाला), बीमार, आलसी, जिव्हा के स्वाद तथा शृंगार आदि रसों को चाहने वाला, बुरे विचारों वाला और अधिक सोने वाला, इन छ: प्रकार के दोषी व्यक्तियों का शास्त्र पढ़ने में अधिकार नहीं है। अर्थात् ये छ: प्रकार के व्यक्ति शास्त्र पढ़ने के योग्य नहीं हैं।

(आर्या)

नश्यति विपुलमतेरपि, बुद्धिः पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृत-लवण-तैल-तण्डुल-तक्रेन्धन-चिन्तया सततम् ॥४॥

मन्दविभवस्य=निर्धन
विपुलमते:=बुद्धिमान्
पुरुषस्य=पुरुष की
अपि=भी
बुद्धिः=बुद्धि
सततं=सदा

घृत-लवण-तैल-तण्डुल-तक्रेन्धन-चिन्तया=घी, लून, तेल, चांवल, छाछ और लकड़ियों की चिन्ता से
नश्यति=नष्ट हो जाती है।

(शंकर छंद)

कछु घृत सनेह न लवण तंडुल तक्र धाम न दाम ।
या संचरी जिंहि चित्त चिन्ता दाम की दुःख धाम ॥
भइ नाश प्राग अगामकी बुधि मूढ़ मोह्यो बाम ।
अधिकार नंहि तिंहि शास्त्र को भजै नित श्रीराम ॥४॥

शब्दार्थ:—सनेह=तेल। तण्डुल=चांवल। तक्र=छाछ। संचरी=इकट्ठा करना। दु:खधाम=दु:खों का घर। प्राग=पहले। अगाम की=आगे की। बाम=स्त्री।

अर्थः—घर में आज न कुछ घी है, न तेल है, न नमक है, न चाँवल है, न छाछ है, न पैसे हैं, इस प्रकार इनके इकट्ठे करने के लिए जिसका चित्त धन की चिन्ता से दुःखों का घर बना हुआ है। अतएव जिसकी पहले की स्मृति व भविष्य के बारे में सोचने की शक्ति नष्ट हो गई है और जो मूढ़ स्त्री के प्रेमपाश में जकड़ गया है ऐसे पुरुष को शास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं है। उसे सदा श्रीराम आदि किसी अपने इष्टदेव का नाम स्मरण आदि करके अन्तःकरण शुद्ध करना चाहिये।

(अनुष्टुप्)

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति ।।५।।

यस्य=जिस पुरुष की
स्वयं=अपनी
प्रज्ञा=समझ
नास्ति=नहीं है
तस्य=उसका
शास्त्रं=शास्त्र
किं=क्या
करोति=करेगा
लोचनाभ्यां=आंखों से
विहीनस्य=हीन
(पुरुषस्य)=पुरुष का
दर्पणः=दर्पण
किं=क्या
करिष्यति=करेगा।

———

(सोरठा)

जिहिं निजमति कछु नाहिं, शास्त्र सु ताको क्या करै।
लोचन बिन जो आहि, दर्पण वाको क्या करै।।५।।

शब्दार्थः—लोचन=नेत्र।

अर्थः—जिसको अपनी बुद्धि नहीं है उसको शास्त्र व गुरु आदि क्या करेंगे अर्थात् ऐसे निर्विवेकी को वेदान्त जैसा शास्त्र तथा कितना ही अनुभवी गुरु क्यों न मिल जाय, किन्तु उसे

आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। जिस प्रकार अन्धे को यदि दर्पण कितना ही साफ क्यों न दिया जाय तथा प्रकाशक सूर्य कितना ही प्रचण्ड क्यों न हो, किन्तु उसे अपने मुख का दर्शन नहीं हो सकता।

(अनुष्टुप्)

अष्टमी च गुरुं हन्ति, शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।
पञ्चदश्युभयं हन्ति, प्रतिपत्सु न चिन्तयेत् ॥६॥

अष्टमी=अष्टमी तिथि
गुरुं=गुरु को
हन्ति=हानि पहुंचाती है
चतुर्दशी=चतुर्दशी तिथि
शिष्यं=शिष्य को
हन्ति=हानि पहुंचाती है
पञ्चदशी=पञ्चदशी तिथि
उभयं=दोनों गुरु शिष्यों को
हन्ति=हानि पहुंचाती है
प्रतिपत्सु=एकम तिथि को —[भी पाठ]
न=नहीं
चिन्तयेत्=विचारना चाहिये।

दोहा:—बीच अष्टमी मीच गुरु, अष्ट षष्ठ में शिष्य।
पंचदशी गुरु शिष मरै, एकम पाठ अशिष्य ॥६॥

शब्दार्थ:—बीच=मध्य (में)। मीच=मृत्यु।

अर्थ:—अष्टमी तिथि को पाठ पढ़ने से गुरु की मृत्यु होती है अथवा उनकी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि गुरु व शिष्यपन बुद्धि के दृष्टि से ही कहा जाता है। चतुर्दशी को पाठ पढ़ने से शिष्य की मृत्यु होती है अथवा उसकी बुद्धि भ्रष्ट होतो है। पञ्चदशी तिथि को पाठ पढ़ने से दोनों गुरु शिष्यों की मृत्यु होती है अथवा दोनों की बुद्धि भ्रष्ट होती है। और एकम तिथि को पाठ पढ़ने से शिष्यपन नष्ट होता है।

शंका:—क्या वास्तव में इन तिथियों पर पाठ पढ़ने से गुरु

व शिष्य की मृत्यु अथवा बुद्धि भ्रष्ट होती है ? यदि यह वास्तविकता है, तो फिर इसका दर्शन वर्तमान में क्यों नहीं होता ? देखा जाता है कि वर्तमान में यदि कोई इन तिथियों पर प्रमादवश अथवा वैसे ही पाठ पढ़-पढ़ा भी लेता है तो भी उसकी मृत्यु अथवा बुद्धि भ्रष्ट तो नहीं होती। फिर इस प्रकार के वचन नीति के पुस्तकों में क्यों आते हैं ?

उत्तर:—हे शिष्य ! शास्त्रों में तीन प्रकार के वचन आते हैं। रोचक, भयानक और यथार्थ। रोचक वाक्य उनको कहते हैं जो किसी वस्तु का प्रलोभन दिखाकर असत्प्रवृत्ति से मनुष्य को हटाकर किसी श्रेष्ठ कर्म में लगावें, तथा जो कुछ भय दिखाकर असत्प्रवृत्ति से साधक को हटाकर किसी श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त कराते हैं वे भयानक वाक्य हैं, और जो वाक्य वास्तविकता का वर्णन करते हैं वे यथार्थ वाक्य होते हैं। उनमें से हे शिष्य ! (बीच अष्टमी मोच गुरु····) आदि ये जो वाक्य हैं वे भयानक वाक्य हैं।

शंका:—भगवन् ! आपने कहा कि भयानक वाक्य किसी श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त कराने के लिये होते हैं, अब यहां वह श्रेष्ठ कर्म कौनसा है जिसमें प्रवृत्त कराने के लिये यह भयानक वचन है ?

उत्तर:—हे शिष्य ! वह है आश्रम आदि की सेवा। पहले विद्यार्थीगण घरों में रहकर विद्यालयों में पढ़ने के लिये नहीं जाते थे, किन्तु नगरों से बाहर गुरुकुल बने हुए थे, वहां विद्यार्थी रहते थे और विद्याध्ययन भी करते थे। उन गुरुकुलों का खर्चा राजाओं व धनी लोगों के दान से चलता था। विद्यार्थियों से कुछ भी नहीं लिया जाता था। केवल अष्टमी, चतुर्दशी, पंचदशी व एकम आदि तिथियों पर मस्तिष्क को आराम देने के लिये तथा आश्रम के उपयोग की लकड़ी आदि इकट्ठी करने के लिये विद्यार्थी समीप के जंगलों में चले जाते थे, वहां प्राकृतिक रमणीय दृश्यों को देखने के अवसर भी उन्हें मिलते थे और लकड़ी आदि

इकट्ठी करने से आश्रम की सेवा भी होती थी तथा उनमें पुरुषार्थ और सेवा करने का भाव भी जाग्रत होता था। फिर जो विद्यार्थी पढ़ने आदि का बहाना बनाकर सेवा-भाव से वञ्चित होकर गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन करके अपमान करते थे उनको नियन्त्रित करने के लिये भयंकर वचन सुनाते थे कि:—

"गुरुहि अवज्ञा घात"

गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करके अपमान करना एक प्रकार से गुरु का घात करना है; अतः जो विद्यार्थी अष्टमी आदि तिथियों पर पढ़ने का बहाना करके बैठ जावेगा वह एक प्रकार से गुरु की अपमान-रूपी हत्या करेगा। और अधिक भयानक करने के लिये कहते थे कि चतुर्दशी को पढ़ने से शिष्य की मृत्यु होगी अर्थात् उस पर गुरुजनों की कृपा नहीं रहेगी। विद्यार्थी पर होने वाली गुरु की कृपा का नष्ट हो जाना ही उसके लिये मृत्यु के समान है। और उससे विद्यार्थी की अपकीर्ति भी होती थी। श्रीभगवान् ने भी कहा है कि:—

"संभावितस्य चापकीर्ति मरणादतिरिच्यते"

अर्थात् प्रतिष्ठित व्यक्ति की अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक है। इसी तात्पर्य को दृष्टिकोण में रखकर ही इस प्रकार के वचन कहे गये हैं। अतः हे तात! इस प्रकार के वचनों का तात्पर्य अक्षरार्थ में नहीं अपितु बुद्धि को आराम देने तथा आश्रम आदि की सेवा में है। और आजकल चाहे वह गुरुकुलों में रहकर विद्या अध्ययन करने का प्रकार न रहा, जिससे आश्रम आदि की सेवारूप श्रेष्ठ कर्म में प्रवृत्त कराने के लिए इस प्रकार के भयानक वचन सुनाने पड़ें, किन्तु पढ़ने के लोभ से शरीर की उपेक्षा करने वाले, पुस्तक-कीट विद्यार्थियों पर नियन्त्रण करने के लिए अर्थात् उन्हें आराम पहुँचाने के लिए इस प्रकार के भयानक वचनों की आवश्यकता आज भी है ही।

———

(वसन्त-तिलका)

अचार्य-पुस्तक-सहाय-निवास-रागाः,
बाह्याश्च पञ्च पठनं परिवर्धयन्ति ।
आरोग्य-बुद्धि-विनयोद्यम-शास्त्र-रागाः,
पञ्चान्तराः पठनसिद्धिकराः भवन्ति ।।७।।

आचार्य-पुस्तक-सहाय-निवास-रागाः=गुरु, पुस्तक, धनादि की सहायता, रहने का स्थान व विद्या में प्रीति
(एते)=ये
बाह्याः=बाहर के
पञ्च=पाँच
(उपायाः)=उपाय
पठनं=अध्ययन को
परिवर्धयन्ति=बढ़ाते

आरोग्य-बुद्धि-विनयोद्यमशास्त्र-रागाः=नीरोगता, बुद्धि, नम्रता, उद्योग, शास्त्र में श्रद्धा
(एते)=ये
पञ्च=पांच
आन्तराः—अन्दर के
पठनसिद्धिकराः=पढ़ने में सिद्धि देने वाले
भवन्ति=होते हैं ।

———

दोहा—गुरु पुस्तक भूमी सुभग, प्रीतम अवर सहाइ ।
करहिं वृद्धि विद्या पठी, बहिर पांच गुण गाइ ।।७।।

शब्दार्थः—सुभग=श्रेष्ठ । प्रीतम=प्रीति । अवर=अन्य पुरुष की । सहाइ=सहायता ।

अर्थः—[विद्या को बढ़ाने के लिये दश गुणों की आवश्यकता है । पांच बाह्य और पांच आन्तरिक गुण] विद्याध्ययन कराने वाला गुरु, पुस्तकें, रहने के लिये बहिर्मुख वातावरण से दूर व सुविधाजनक स्थान, विद्याध्ययन में प्रीति और अन्य पुरुष व

सम्बन्धी आदि की सहायता, ये पांच प्रकार के बाह्य गुण, विद्या के पढ़ने में व उनकी वृद्धि में कारण हैं।

दोहा—शास्त्रप्रीति शुध बुधि भगति, उद्यम रोग न देह।
करहिं वृद्धि विद्या पठी, पांचांतर गुण एह ॥७॥

अर्थः—शास्त्र में प्रीति, पवित्र बुद्धि, ईश्वर व गुरु में प्रेम (भक्ति), पढ़ने में परिश्रम व निरोग शरीर, ये पांच आन्तरिक गुण पढ़ी हुई विद्या की वृद्धि करते हैं।

(अनुष्टुप्)

गुरुशुश्रूषया विद्या, पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या, चतुर्थं नैव कारणम् ॥८॥

गुरुशुश्रूषया = गुरु की सेवा से
विद्या = विद्या
[प्राप्यते] = प्राप्त होती है
वा = अथवा
पुष्कलेन = बहुत से
धनेन = धन से
विद्या = विद्या [प्राप्त होती है]
अथवा = अथवा
विद्यया = विद्या से
विद्या = विद्या [प्राप्त होती है]
चतुर्थम् = चौथा
कारणम् = कारण
नैव (अस्ति) = है ही नहीं।

दोहा—गुरु-सेवा व द्रव्यकरि, विद्या विद्या होय।
तृतिय वृद्धि विद्या करहिं, चौथो हेतु न कोय ॥८॥

अर्थः—गुरु की सेवा करके, वा धन खर्च करके, अथवा विद्या देकर विद्या पढ़ी जा सकती है। ये तीनों साधन विद्या का विस्तार कर सकते हैं, इनके अतिरिक्त और कोई चौथा उपाय नहीं है।

(अथ विद्या-महिमा)

(अनुष्टुप्)

विद्या शिल्पमनालस्यं, पाण्डित्यं मित्रसंग्रहः ।
अचोरहरणीयाश्च, पञ्चैते निधयोऽक्षयाः ।।६।।

विद्या=विद्या
शिल्पम्=कारीगरी
अनालस्यम्=उद्यम
पाण्डित्यम्=चतुराई (ब्रह्मदर्शन)
मित्रसंग्रहः=मित्रों से मेल
एते=ये
पञ्च=पांच
निधयः=निधियां (दौलत)
अचोरहरणीयाः=चोरों द्वारा चुराने के अयोग्य
च=और
अक्षयाः=क्षय रहित
(सन्ति)=हैं ।

दोहा—विद्या उद्यम शिल्पता, पण्डित संग्रह-मीत ।
अक्षय न भय तस्कर इनै, पांच निधी सुख नीत ।।६।।

अर्थः—विद्या, उद्योग, कारीगरी, बुद्धिमत्ता अथवा ब्रह्म-ज्ञान, सुमित्रों का संग्रह, ये पांचों सुख देने वाली अक्षय सम्पत्तियां हैं, जिनके विषय में चोरों द्वारा चुराये जाने का भी भय नहीं है ।

(शार्दूल-विक्रीडित)

विद्या नाम नरस्य रूपमतुलं, प्रच्छन्न-गुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशस्सुखकरी, विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परं दैवतं,
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं, विद्या-विहीनः पशुः ।।१०।।

विद्या=विद्या
नाम=ही
नरस्य=पुरुष का
अतुलम्=अनुपम
रूपम्=स्वरूप
अस्ति=है
प्रच्छन्नगुप्तम्=छिपा हुआ गुप्त
धनम्=धन [है]
विद्या=विद्या
भोगकरी=भोग देने वाली
यशस्सुखकरी=यश और सुख को देने वाली है
विद्या=विद्या
गुरूणां=गुरुओं की [भी]
गुरुः=गुरु है
विद्या=विद्या
विदेशगमने=परदेश जाने में
वन्धुजनः=वन्धु के समान है
विद्या=विद्या
परं=उत्कृष्ट
दैवतम्=देवता है
विद्या=विद्या
राजसु=राजाओं में [भी]
पूजिता=पूजित [होती है]
न=न
तु=कि
धनं=धन
विद्याविहीनः=विद्या से रहित मनुष्य
पशुः=पशु समान
(भवति)=होता है।

दोहा—गुप्त प्रच्छन्न अतुल्य धन, विद्या नरवपु जान।
विद्या यश सुख भोग दे, विद्या गुरु गुरु मान ॥१०॥

शब्दार्थः—प्रच्छन्न=छिपा हुआ। नरवपु=मनुष्य शरीर।

अर्थः—विद्या गुह्य छिपा हुआ अनुपम धन है। विद्या से हीं वास्तविक मनुष्यत्व प्राप्त होता है। विद्या यश, भोग्यपदार्थ व सुख देने वाली है। और विद्या से ही लोग गुरु गुरु करके मानते हैं; अथवा विद्या गुरुओं की भी गुरु है।

दोहा—विद्या बंधु प्रदेश में, विद्या देव विशेख।
पूज्य नृपोंकरि अघहती, विद्या बिन पशु देख ॥१०॥

शब्दार्थः—विशेख=विशेषता वाली । अघहती=पापों को नष्ट करने वाली ।

अर्थः—विद्या विदेश में बन्धुओं की तरह सहायक होती है। विद्या में देवताओं से भी अधिक विशेषता है, क्योंकि देवता हमें अच्छे किन्तु क्षणिक भोग-पदार्थ दिलाने में ही समर्थ हैं, परन्तु विद्या से नित्य परम आनन्द-रूपी मोक्ष की प्राप्ति होती है। विद्वान् की राजा लोग भी पूजा करते हैं। विद्या (अनुभवात्मक आचरण) से पाप नष्ट होते हैं। विद्या के बिना मनुष्य पशु के समान है।

———

(इन्द्र-वज्रा)

आहार-निद्रा-भय-मैथुनानि,
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो,
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ॥११॥

आहारनिद्राभयमैथुनानि=खाना, सोना, डरना और मैथुन	अधिकः=अधिक
एतत्=यह सब (व्यवहार)	विशेषः=विशेषता
नराणाम्=मनुष्यों का	ज्ञानम्=आत्म-ज्ञान [है]
पशुभिः=पशुओं से	ज्ञानेन=ज्ञान से
सामान्यम्=बराबर [है]	हीनाः=रहित [मनुष्य]
नराणाम्=मनुष्यों की	पशुभिः=पशुओं के
	समानाः=बराबर हैं।

—०—

दोहा—निद्रा भोजन भोग भय, ये पशु पुरुष समान ।
नरन ज्ञान निज अधिकता, ज्ञान बिन पशु जान ॥११॥

अर्थः—सोना, भोजन करना, भोग भोगना तथा भय में रहना, इन लक्षणों की दृष्टि से तो पशु व पुरुषों में कोई भेद नहीं है। किन्तु मनुष्यों में एक विशेषता है, वह है आत्मज्ञान की। और जिनको आत्मज्ञान अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप सत्, चेतन व आनन्दस्वरूप साक्षीरूप शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान नहीं है, तो वे मनुष्य पशु के समान हैं।

(उपजाति)

येषां न विद्या न तपो न दानं,
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥१२॥

येषां=जिन पुरुषों के पास
न=न
विद्या=विद्या
(अस्ति)=है
न=नहीं
तपः=तप [है]
न=न
दानं=दान [है]
च=और
शीलम्=सदाचार
अपि=भी
न=नहीं
(अस्ति)=है
न=नहीं
गुणः=गुण [है]
न=नहीं
धर्मः=धर्म [है]
ते=वे लोग
मृत्युलोके=इस मृत्युलोक में
भुवि=पृथ्वी पर
भारभूताः=भारस्वरूप [होकर]
मनुष्यरूपेण=मनुष्य के रूप में
मृगाः=पशु
चरन्ति=विचरते हैं।

दोहा—धर्म शील गुण दान तप, विद्या बिन जे जंत।
मृत्युलोक क्षितिभार ते, नरवपु मृग विचरंत ॥१२॥

शब्दार्थः—क्षिति=पृथ्वी। नरवपु=मनुष्य शरीर।

अर्थ—जो पुरुष धर्म, सदाचार, दान तप अर्थात् अपने कर्त्तव्य पालन करने में आये हुए कष्टों को सहने का स्वभाव तथा अध्यात्म विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से रहित हैं, वे इस मृत्युलोक में पृथ्वी पर भार-रूप होकर मानो मनुष्य के रूप में पशु घूमते हैं।

(अनुष्टुप्)

स्वरे शिरो जने मांसं, त्वचं च ब्रह्मचारिणे।
ददाति योगिने शृङ्गं, मृगः स्त्रीषु च लोचनम् ।।१३।।

मृगः=हरिण	ब्रह्मचारिणे=ब्रह्मचारी के लिये
हि=निश्चय करके	त्वचं=त्वचा
स्वरे=राग पर	योगिने=योगी के लिये
शिरः=मस्तक	शृङ्गम्=सींग
ददाति=दे देता है	च=और
जने=लोगों के लिये	स्त्रीषु=स्त्रियों की उपमा के लिये
मांसम्=मांस	लोचनम्=आंख
च=और	ददाति=दे देता है।

दोहा—स्वर शिर त्वक मुनि पलद जन, शृंग योगि दृगनार।
पंच गुण मृग षट दोष नर, नरते हरिण उदार ।।१३।।

शब्दार्थः—पलद=मांस।

अर्थः—स्वर पर शिर देना व मुनियों के लिये अपनी खाल, मांसाहारी तथा शिकारियों के लिये मांस, योगियों के लिये [खुजाने के लिए] सींग तथा स्त्रियों की आंखों की उपमा के लिये अपने नेत्र अर्पण करना; ये पांच गुण हरिण में हैं और अज्ञानी प्राणियों में १२ वें श्लोक में कहे हुए [गुणाभाव-रूप] छः दोष हैं। अतः ऐसे मूर्ख प्राणियों से तो हरिण ही श्रेष्ठ हैं।

(अनुष्टुप्)

गुणान्दोषानशास्त्रज्ञः, कथं विभजते जनः ।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति, रूपभेदोपलब्धिषु ।।१४।।

अशास्त्रज्ञः=अशिक्षित
जनः=पुरुष
गुणान्=गुणों को [और]
दोषान्=दोषों को
कथं=कैसे
विभजते=विभक्त कर सकता है ?
अन्धस्य=अन्धे का
रूपभेदोपलब्धिषु=रूपों के भेद की पहचान में
किम्=क्या
अधिकारः=अधिकार
अस्ति=है ?

दोहा—पुरुष अशास्त्री क्या लखै, गुण दोषन की सन्ध ।
रूपभेद अधिकार को, क्या प्रापत है अन्ध ।।१४।।

शब्दार्थः—सन्ध=भेद ।

अर्थः—अशिक्षित व्यक्ति गुण अवगुण की पहचान क्या करेगा ? जैसे अन्धा मनुष्य सौन्दर्य, असौन्दर्य, लाल, पीला, नीला आदि रूपों के भेद को क्या जानेगा ? अर्थात् नहीं जानेगा ।

(अनुष्टुप्)

स्वगृहे पूज्यते मूर्खः, स्वग्रामे पूज्यते प्रभुः ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।१५।।

मूर्खः=मूर्ख
स्वगृहे=अपने घर में
पूज्यते=पूजा जाता है
प्रभुः=मुखिया
स्वग्रामे=अपने गांव में
पूज्यते=पूजा जाता है
राजा=राजा
स्वदेशे=अपने देश में
पूज्यते=पूजा जाता है [और]
विद्वान्=विद्वान्
सर्वत्र=सब जगह
पूज्यते=पूजा जाता है ।

दोहा—मुग्ध पूज्य निजधाम में, प्रभु पूजित निज नग्र ।
भूपति पूज्य स्वदेश में, पूजित गुणी समग्र ।।१५।।

अर्थः—मूर्ख की केवल अपने घर में ही पूजा या मान्यता होती है, मुखिया की उसके नगर में व राजा की अपने देश में ही पूजा होती है, किन्तु गुणी विद्वान् की सर्वत्र पूजा होती है।

(अनुष्टुप्)

अप्येकाक्षरदातारं, यो गुरुं नाभिमन्यते ।
श्वानयोनिशतं गत्वा, चाण्डालेष्वनुजायते ।।१६।।

यः=जो पुरुष	(सः)=वह
एकाक्षरदातारम्=एक अक्षर पढ़ाने वाले को	श्वानयोनिशतं=सौ बार कुत्ते की योनि को
अपि=भी	गत्वा=प्राप्त करके
गुरुम्=गुरु	चाण्डालेषु=चाण्डालों में
न=नहीं	अनुजायते=उत्पन्न होता है।
अभिमन्यते=मानता है	

दोहा—एकाक्षर दाता जु गुरु, जो सेवित नहिं तास ।
पाय जन्मशत श्वान को, बहुरि श्वपच घर वास ।।१६।।

शब्दार्थः—श्वान=कुत्ता । श्वपच=चांडाल ।

अर्थः—महावाक्य अथवा एक अक्षर भी पढ़ाने वाले गुरु की जो सेवा नहीं करता अर्थात् उनके सत्य उपदेश पर नहीं चलता, वह सौ जन्म कुत्ते के प्राप्त करके पुनः चांडाल के घर में पैदा होता है।

(अनुष्टुप्)

रूप-यौवन-संपन्ना, विशाल-कुल-संभवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ।।१७।।

रूपयौवनसंपन्नाः=सौन्दर्य और जवानी से सम्पन्न
विशालकुलसंभवाः=बड़े कुल में उत्पन्न
(किन्तु)=किन्तु
विद्याहीनाः=विद्या से रहित पुरुष
निर्गन्धाः=सुगन्धि से रहित
किंशुकाः=केशू के फूलों की
इव=तरह
न शोभन्ते=शोभा नहीं पाते।

दोहा—रूप द्रव्य यौवन सहित, सुकुल जन्म बहु बंध।
विद्या बिन शोभत नहीं, ज्यों केसू बिन गंध ॥१७॥

शब्दार्थः—बन्ध=बन्धु (परिवार)।

अर्थः—सुन्दर रूप, धन, जवानी, श्रेष्ठ कुल में जन्म तथा बहुत सम्बन्धी व मित्रों वाला पुरुष भी यदि विद्या से हीन है तो शोभा नहीं देता, जैसे केशू-फूल दीखने में सुन्दर होते हुए भी बिना सुगन्धि के शोभा नहीं देते।

(आर्या)

यद्यपि भवति विरूपो, वस्त्राऽलङ्कार-वेष-परिहीनः।
सज्जन-सभा-प्रविष्टो, राजति विद्याधिकः पुरुषः ॥१८॥

विद्याधिकः=विद्वान्
पुरुषः=पुरुष
यद्यपि=चाहे
विरूपः=कुरूप [और]
वस्त्रालंकार-वेष-परिहीनः=वस्त्र, भूषण आदि वेष से रहित
भवति=हो
(तथापि)=तो भी
सज्जन-सभा-प्रविष्टः=सज्जनों की सभा में प्रविष्ट [होकर]
राजति=शोभा पाता है।

दोहा—अलंकार पट भेष बिन, यद्यपि होइ विरूप।
शोभत संतन स्थित सभा, जन विद्वान् अनूप ॥१८॥

अर्थ:—अनुपम विद्वान् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी चाहे सुन्दर-सुन्दर भूषण व सुन्दर-सुन्दर वस्त्रादि वेष से रहित हो, चाहे मुख पर सौन्दर्य न हो, फिर भी सन्त पुरुष व सज्जनों की सभा में शोभा (मान) को प्राप्त होता है।

(आर्या)

अनधीत्य शब्दशास्त्रं, योऽन्यच्छास्त्रं समीहते वक्तुम्।
सोऽहेः पदानि गणयति, निशि तमसि जले चिरगतस्य ॥१९॥

यः=जो मनुष्य
शब्दशास्त्रम्=व्याकरण को
अनधीत्य=न पढ़कर
अन्यत्=दूसरे
शास्त्रम्=शास्त्र को
वक्तुम्=बोलने का
समीहते=प्रयत्न करता है
सः=वह
निशि=रात्रि के समय
तमसि=अन्धकार में
जले=जल में
चिरगतस्य=बहुत पहले गये हुए
अहेः=सर्प के
पदानि=पैरों को
गणयति=गिनता है।

(सोरठा)

शब्दशास्त्र को त्याग, चहै अध्ययन पर निगम।
सो पग गिनतहिं नाग, निशि तम जलमों चिर रम्यो ॥१९॥

शब्दार्थ:—शब्दशास्त्र=व्याकरण। निगम=शास्त्र।

अर्थ:—जो पुरुष बिना व्याकरण को पढ़े दूसरे वेदादि शास्त्र पढ़ना चाहता है वह मानो रात्रि के समय अन्धेरे में जल में बहुत पहले गये हुए साँप के पाँव गिनता है अर्थात् बिना व्याकरण को पढ़े अन्य शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो सकता।

(अनुष्टुप्)

अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
विषं गोष्ठी दरिद्रस्य, वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥२०॥

अनभ्यासे=बिना अभ्यास के	दरिद्रस्य=[सद्गुणों से] दरिद्र की
शास्त्रम्=शास्त्र	गोष्ठी=संगति
विषम्=विष-तुल्य	विषम्=विष-तुल्य होती है [और]
(भवति)=होता है	वृद्धस्य=वृद्ध के लिये
अजीर्णे=अजीर्ण अवस्था में	तरुणी=युवती स्त्री
भोजनम्=भोजन	विषम्=विष-समान
विषम्=विष होता है	(भवति)=होती है।

दोहा—विष विद्या अभ्यास बिन, भोजन गरल अघाइ।
शुभको संग दरिद्रि विष, वृद्ध नारि विष गाइ ॥२०॥

अर्थः—बिना अभ्यास के विद्या विष के समान [भूल जाने से चिन्तारूपी] दु:ख देती है। जैसे पेट भर जाने के बाद अथवा अजीर्ण की अवस्था में भोजन विष होकर दु:ख देता है, सज्जनों को दरिद्र अर्थात् सद्गुणों से दरिद्र नीच पुरुषों की संगति विष-तुल्य लगती है तथा वृद्ध पुरुष के लिये युवती नारी विष-तुल्य कही जाती है।

(वसन्त-तिलका)

मातेव रक्षति पितेव हितं करोति,
कांतेव चाभिरमयत्यभिहंति शोकम्।
विद्या करोति निखिलं, खलु बन्धुकार्यं,
सौख्यं च कीर्तिमतुलां, गुरुतां च लोके ॥२१॥

लोके=संसार में
विद्या=विद्या
माता=माता की
इव=तरह
रक्षति=रक्षा करती है
पिता=पिता की
इव=तरह
हितं=हित
करोति=करती है
कान्ता=स्त्री की
इव=तरह
अभिरमयति=सुख देती है
च=और
शोकम्=शोक को
अभिहन्ति=नष्ट करती है
खलु=निश्चय करके
निखिलम्=सम्पूर्ण
बन्धुकार्यम्=बन्धुओं के कार्य को
सौख्यम्=सुख को
च=तथा
अतुलाम्=अनुपम
कीर्तिम्=यश को
च=और
गुरुताम्=बड़प्पन को
करोति=दिलाती है।

दोहा—मातावत रक्षा करै, पिता जिवें हितकार।
करै नारि ज्यों प्रेम बहु, शोकटार सुखकार ।।२१।।

अर्थः—विद्या माता की तरह रक्षा करती है, पिता के समान हित करती है, स्त्री के समान सुख देती है अथवा विद्या के नाते लोग स्त्री की तरह प्रेम करते हैं और विद्या शोकों को नष्ट करके आनन्द की प्राप्ति करवाती है।

दोहा—विद्या बान्धव ज्यों सकल, कारज देत संवार।
दायक कीरति द्रव्य की, तातें पढें उदार ।।२१।।

अर्थः—विद्या बन्धुजनों की तरह हमारे सभी कार्यों को पूर्ण करती है और संसार में यश व धन की प्राप्ति करवाती है, अतः उन्नतिशील पुरुषों को विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये।

(अनुष्टुप्)

सहस्रगुणिता विद्या, शतशः परिकीर्तिता ।
आगच्छत्येव जिह्वाग्रे, स्थानं निम्नमिवोदकम् ।।२२।।

शतशः=सौ बार	स्थानम्=स्थान में
परिकीर्तिता=अभ्यस्त की गई	जलम्=जल की
विद्या=विद्या	इव=तरह
सहस्रगुणिता=हजारगुणा	जिह्वाग्रे=जीभ के अग्रभाग में
भवति=हो जाती है	आगच्छति एव=आ ही जाती है।
निम्नम्=नीचे के	

दोहा—सहस गुणा विद्या बढ़े, पुनः पुनः अभ्यास ।
रसनाग्रे निशि दिन बसे, ज्यों जल नीचे वास ।।२२।।

शब्दार्थः—निशि=रात्रि ।

अर्थः—बार-बार अभ्यास करने से विद्या हजार गुना बढ़ जाती है और दिन रात जिह्वा के अग्रभाग पर ही विराजमान रहती है, जैसे जल सदा नीचे देश में खड़ा रहता है ।

(अनुष्टुप्)

मदोपशमनं शास्त्रं, खलानां कुरुते मदम् ।
चक्षुःसंस्कारकं तेज, उलूकानामिवान्धताम् ।।२३।।

मंदोपशमनम्=अभिमान को दूर करने वाला	चक्षुःसंस्कारकम्=आंखों के अंधकार को दूर करने वाला
शास्त्रम्=शास्त्र	तेजः=प्रकाश
खलानाम्=मूर्खों के	उलूकानाम्=उल्लुओं के
मदम्=अभिमान को	अन्धताम्=अन्धेपन को
कुरुते=करता है	कुरुते=करता है ।
इव=जैसे	

दोहा—शास्त्र कर मद हत सुजन, खल को मद उपजंत ।
ज्यों दृग भानु प्रकाश है, उल्लू अन्ध करंत ।।२३।।

शब्दार्थः—दृग=आँख । भानु=सूर्य ।

अर्थः—शास्त्र का अध्ययन करने से सज्जन पुरुषों का 'मैं यज्ञदत्त हूँ' इत्यादि जो थोड़ा बहुत देहाभिमान है वह भी नष्ट होता है, किन्तु दुष्ट पुरुषों को तो 'मैं विद्वान् हूँ' इत्यादि अहंकार और अधिक उत्पन्न होता है। जैसे सूर्य सभी की आँखों को प्रकाश देता है, परन्तु उल्लू उसी प्रकाश से अन्धा हो जाता है।

(शार्दूल-विक्रीडित)

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्र-प्रभाः ।
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं, नाकुंचिता मूर्द्धजाः ।।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं, या संस्कृता धार्यते ।
क्षीयन्तेऽखिल-भूषणानि सततं वाग्भूषणं चाऽक्षयम् ।।२४।।

केयूराः=बाजूबन्ध
च=और
चन्द्र-प्रभाः=चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल
हाराः=हार
पुरुषं=पुरुष को
न विभूषयन्ति=विभूषित नहीं करते
न=नहीं
स्नानम्=स्नान
न=न
विलेपनम्=चन्दनादि सुगन्धि पदार्थों का लेप
न=नहीं
कुसुमम्=सुन्दर पुष्प
न=नहीं
आकुञ्चिताः=सजाये हुए
मूर्द्धजाः=बाल
विभूषयन्ति=भूषित करते हैं [किन्तु]
एका=एक
वाणी=वाणी [ही]
पुरुषम्=पुरुष को
समलंकरोति=शोभित करती है
या=जो
संस्कृता=शुद्ध

धार्यते=धारण की जाती है
च=और
अखिल-भूषणानि=सभी गहने
सततं=सदा
क्षीयन्ते=क्षीण हो जाते हैं
(किन्तु)=किन्तु
वाग्भूषणम्=वाणीरूपी गहना
अक्षयम्=अक्षय
भवति=होता है।

(सवैया)

मुकुटांगद कुंडल कंकण है कर चंद्रप्रभा गर मोतिन हारा।
मुख चंद्रप्रभा दृग कंजप्रभा तनु कंद्रप्रभा रतिसी घर दारा।।
अस्नान विलेपन चंदन कुंकुम गंध घनी कर गुंथित वारा।
नर को यह सुन्दर साज करै पर अन्त अनंत कलेश भंडारा ।।२४।।

शब्दार्थः—मुकुट=शिर पर धारण करने वाला ताज। अंगद=बाजूबन्द। कर=हाथ। गर=गला। दृग=आँख। कंजप्रभा=कमल के पुष्प के समान शोभा वाले। तनु=शरीर। कंद्रप्रभा=कामदेव के समान सुन्दर। रतिसी=कामदेव की स्त्री जैसी। दारा=स्त्री। गुंथित=घुंडीदार। साज=सामग्री।

अर्थः—कोई पुरुष यदि मस्तक पर मुकुट धारण करता हो तथा भुजाओं में बाजूबन्द, कानों में कुण्डल, हाथों में कंगन व गले में चन्द्रमा जैसे उज्ज्वल मोतियों के हार पहनता हो तथा चन्द्रमा की तरह मनोहर जिसका मुख हो, कमल के समान विशाल खिले हुए जिसके नेत्र हों, कामदेव सा चित्ताकर्षक जिसका शरीर हो, कामदेव की स्त्री रति के समान सुन्दर घर में स्त्री हो तथा सुगन्धि चूर्णों का लेप करके स्नान करता हो व चन्दन, कुंकुम, सुगन्धि इत्र लगाकर बालों को घुण्डीदार बनवाता हो, इन सारी सामग्रियों से मनुष्य ऊपर से सुन्दर तो अवश्य लगता है, किन्तु अन्त में ये सब उसके अनन्त महान्

दुःखों के भंडार बन जाती हैं। [अतः यदि अपने को वास्तविक सुन्दर व सुखी बनाना है, तो निम्नलिखित गहना पहनना चाहिये।]

(सवैया)

सब भूषण में शुभ भूषण है,
यह वेदमयी इक वाणि उदारा।
नर को वहि सुन्दर वेग करै,
वपु सार जिसे फल देवहि सारा॥
चतुरानन चौदह भौन रचे,
पर ना विद्या सम ताहि मंझारा।
नर ताते सदैव पढै विद्या,
हरद्याल चहे जु पदारथ चारा॥२४॥

शब्दार्थः—चतुरानन=ब्रह्मा [चतुर=चार+आनन=मुख] भौन=लोक।

अर्थः—सब गहनों में श्रेष्ठ गहना यह वेदों की ज्ञानदा श्रेष्ठ वाणी ही है। यह शीघ्र ही मनुष्य को सुन्दर अर्थात् सब को प्रिय लगने वाला बना देती है तथा मनुष्य शरीर के सारभूत सभी फल प्राप्त करवाती है अर्थात् विद्या से ही शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति होती है। ब्रह्मा ने चौदह लोक बनाये हैं, किन्तु उनमें विद्या के समान श्रेष्ठ दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसलिये श्रीहरदयालजी कहते हैं कि जो मनुष्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करना चाहता है वह अवश्य वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन करके वास्तविक विद्या प्राप्त करे।

दोहा—इकीस दोहे सोरठे, तीन सवैये चीन ।
इक शंकर अठवीस वृत, चितवृति करहिं महीन ।।

शब्दार्थ:—चीन=देखो । वृत=श्लोक । महीन=सूक्ष्म ।

अर्थ:—इस अध्याय में इक्कीस दोहे, तीन सोरठे, तीन सवैये, एक शंकर छन्द; इस प्रकार कुल २८ अठाईस छन्द हैं। जो इन्हें पढ़ेगा उसकी चित्त की वृत्ति सूक्ष्म होगी ।

———

दोहा—इति श्रीसारुक्तावली, तासु तृतीय अध्याय ।
कीरति विद्या की कही, कवि हरद्याल सुभाय ।।

अर्थ:—श्रीसारुक्तावली का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ, जिसमें कवि श्रीहरदयालजी ने हृदय से विद्या की कीर्ति गाई है।

इति तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्याय:

दोहा—कहे चतुर्थे ज्ञान हित, उत्तम आठ शलोक।
शोक रुकहि इस लोक के, अन्तहु मुक्ति सलोक।।

अर्थ:—इस चतुर्थ अध्याय में उत्तम आठ श्लोकों द्वारा ज्ञान का वर्णन करते हैं, जिन पर चलने से इस लोक के शोक निवृत्त होंगे और अन्त में सालोक्य मोक्ष प्राप्त होगा।

(अनुष्टुप्)

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं, मनःपूतं समाचरेत् ।।१।।

दृष्टिपूतम्=देखकर
पादम्=पाँव
न्यसेत्=रखना चाहिये
वस्त्रपूतम्=वस्त्र से छान कर
जलम्=जल
पिबेत्=पीना चाहिये
सत्यपूतम्=सत्य से पवित्र
वाक्यम्=वाक्य
वदेत्=बोलना चाहिये
मनःपूतम्=मन से पवित्र
समाचरेत्=व्यवहार करना चाहिये।

—*—

(सवैया)

जन उत्तम हेर धरा पर,
उत्तम पांव धरैं नहीं जन्तु मरैं।
अति वाक्य पवित्र यथारथ सुन्दर,
शोध हृदै सब ही को ररैं।

पुणके शुच चीर सुनीर भले,
जन धीर निरंतर पान करैं।
मतिसों लखिके सत वस्तु धरैं,
पुरुषोत्तम लक्षण ए उचरैं ॥१॥

शब्दार्थः—हेर=देख कर। धरा=पृथिवी। ररैं=कहैं। पुणके=छान करके। शुच=पवित्र वा साफ। चीर=कपड़ा। सुनीर=साफ जल। उचरैं=कहे जाते हैं।

अर्थः—उत्तम लोग चलते समय पृथ्वी पर देखकर पांव रखते हैं जिससे कोई जीव न मरे। बोलते समय हृदय में विचार करके ही पवित्र व सत्य वचन सुन्दर मधुर शैली में दूसरों से कहते हैं। और वे धीर पुरुष जल पीते समय सदा ही शुद्ध व स्वच्छ कपड़े में छना हुआ स्वच्छ जल ही पीते हैं तथा सदा बुद्धि से विचार कर सद्वस्तु का ही ग्रहण करते हैं। ये उत्तम पुरुषों के लक्षण कहे जाते हैं।

(अनुष्टुप्)

अद्भिः शुद्धयन्ति वस्त्राणि, मनः सत्येन शुद्धयति।
अहिंसया च भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ॥२॥

वस्त्राणि=कपड़े	भूतात्मा=जीवात्मा
अद्भिः=जल से	अहिंसया=अहिंसा से
शुद्धयन्ति=शुद्ध होते हैं	शुद्धयति=शुद्ध होता है
मनः=मन	बुद्धिः=बुद्धि
सत्येन=सत्य से	ज्ञानेन=ज्ञान से
शुद्धयति=शुद्ध होता है	शुद्धयति=शुद्ध होती है।

दोहा—तनु पट जल करि शुद्ध ह्वै, बुद्धि वेदान्त विचार ।
जीव अहिंसा गो-भगति, मन निर्वेदहिं धार ।।२।।

शब्दार्थः—तनु=शरीर । गो-भगति=गऊ की सेवा । निर्वेदहिं=वैराग्य ।

अर्थः—शरीर व वस्त्र जल से शुद्ध होते हैं । बुद्धि वेदान्त के विचार से शुद्ध होती है । जीवात्मा (अन्तःकरण-विशिष्टचेतन) गऊ सेवा व अहिंसा आदि धर्मों का पालन करने से तथा मन वैराग्य धारण करने से शुद्ध होता है । [वास्तव में शुद्धि अशुद्धि अन्तःकरण के ही धर्म हैं] ।

———

(अनुष्टुप्)

जलेन जनितं पंकं, जलेन परिशुद्धयति ।
चित्तेन जायते पापं, चित्तेन परिशुद्धयति ।।३।।

जलेन=जल से	चित्तेन=चित्त से
जनितम्=उत्पन्न हुआ	पापम्=पाप
पंकम्=कीचड़	जायते=उत्पन्न होता है
जलेन=जल से	चित्तेन=चित्त से [ही]
परिशुद्धयति=शुद्ध होता है [वैसे]	परिशुद्धयति=शुद्ध होता है :

———

दोहा—जल करि कर्दम उपज है, जल करि पंक विनाश ।
मन करि उपजत पाप किल, मन करि ही अघ नाश ।।३।।

शब्दार्थः—कर्दम=कीचड़ । पंक=कीचड़ । किल=निश्चय करके । अघ=पाप ।

अर्थः—जिस प्रकार (मिट्टी से मिले) पानी से ही कीचड़ उत्पन्न होती है और [शुद्ध] पानी से ही नष्ट होती है उसी प्रकार [अशुद्ध] मन से ही पाप उत्पन्न होते हैं और [शुद्ध] मन से ही उनका नाश होता है।

(अनुष्टुप्)

जलस्नानं व्रतस्नानं, मंत्रस्नानं तथैव च।
जलस्नानं गृहस्थानां, व्रतमन्त्रौ तपस्विनाम् ॥४॥

जलस्नानम्=जल द्वारा स्नान	भवति=होता है
व्रतस्नानम्=व्रत द्वारा स्नान	गृहस्थानाम्=गृहस्थों के लिए
च=और	जलस्नानम्=जल स्नान [और]
तथा=उसी प्रकार	तपस्विनाम्=तपस्वियों के लिये
एव=ही	व्रतमन्त्रौ=व्रत और मन्त्र स्नान
मन्त्रस्नानम्=मन्त्र द्वारा स्नान	भवतः=होते हैं।

दोहा—जल व्रत मंत्र स्नान त्रय, जपी तपी व्रत मंत्र।
जल स्नान ग्रसथीन को, पूजें उभय निरंत्र ॥४॥

शब्दार्थः—त्रय=तीन। उभय=दोनों।

अर्थः—स्नान तीन प्रकार का होता है (१) जल स्नान, (२) व्रत स्नान, और (३) मन्त्र स्नान। जपी के लिये मन्त्र स्नान अर्थात् मन्त्रों का जाप करके मन को शुद्ध करे यथा तपस्वी के लिये व्रत स्नान अर्थात् व्रत आदि का पालन करके मन को शुद्ध करे और गृहस्थों के लिये जल स्नान प्रधान है तथा वे सदा जपी व तपस्वी दोनों की सेवा करके मन को शुद्ध करें।

(अनुष्टुप्)

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं, तीर्थस्नानैर्न शुद्धयति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं, मद्य-भाण्डमिवाऽशुचि ।।५।।

अन्तर्गतम्=अन्दर से
दुष्टम्=मलिन
चित्तम्=मन
तीर्थस्नानैः=तीर्थस्नानों से
न शुद्धयति=शुद्ध नहीं होता
इव=जैसे
शतशः=सैकड़ों बार
अपि=भी [केवल बाहर से]
जलैः=जल से
धौतम्=धोया हुआ
मद्य-भांडम्=शराब का बर्तन
अशुचि=अपवित्र [ही रहता है]।

दोहा—जल न्हाये न्हाये नहीं, अंतःकरण मलीन ।
सुरा पात्र को बार सौ, धोए शुद्ध कबी न ।।५।।

शब्दार्थः—सुरा=शराब । पात्र=बर्तन ।

अर्थः—अन्तःकरण यदि कूट-कपट आदि विकारों से मलिन है तब तो केवल जल स्नान करने से मन की शुद्धता के विषय में क्या होगा ? अर्थात् मन अपवित्र रहने से केवल स्नान करने मात्र से पवित्रता नहीं होगी; जैसे शराब के बर्तन को ऊपर से कितना ही पानी से धो डालो, किन्तु भीतर से शुद्ध नहीं होगा ।

—*—

(अनुष्टुप्)

सत्यं तीर्थं तपस्तीर्थं, तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्व-जीव-दया तीर्थमेतत्तीर्थस्य लक्षणम् ।।६।।

सत्यम्=सत्य व्यवहार
तीर्थम्=तीर्थ
(अस्ति)=है
तपः=[अपने कर्तव्य-पालन करते समय जो कष्ट आवें उन्हें सहन करना-रूपी] तपश्चर्या

तीर्थम्=तीर्थ है
इन्द्रिय-निग्रह:=इन्द्रियों को वश में रखना
तीर्थम्=तीर्थ है
सर्वजीवदया=सब जीवों पर दया
तीर्थम्=तीर्थ है
एतत्=यही
तीर्थस्य=तीर्थ का
लक्षणम्=लक्षण-स्वरूप
(अस्ति)=है ।

दोहा—मात पिता गुरु की टहल, सत तप गुण निग्रेह ।
कृपा सर्व पर सत्त हैं, अन्तर तीरथ एह ।।६।।

शब्दार्थः—टहल=सेवा । निग्रेह=इन्द्रियों को वश में रखना ।

अर्थः—माता पिता गुरु आदिकों की सेवा करना, सत्य व्यवहार करना, तप अर्थात् अपने कर्तव्य-पालन करने में जो कष्ट आवें उन्हें सहन करना, इन्द्रियों को वश में रखना, सब जीवों पर दया करना आदि श्रेष्ठ गुण आन्तरिक तीर्थ हैं अर्थात् अन्तःकरण को शुद्ध करते हैं ।

(शार्दूल-विक्रीडित)

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता, शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो, वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितु, र्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषमपि सर्व-काल-सुभगं, शीलं वरं भूषणम् ।।७।।

ऐश्वर्यस्य=ऐश्वर्य का
विभूषणम्=भूषण
सुजनता=सज्जनता है
शौर्यस्य=शूरवीरता का
वाक्संयमः=थोड़ा बोलना
ज्ञानस्य=ज्ञान का
उपशमः=शान्ति
श्रुतस्य=पाण्डित्य का
विनयः=नम्रता
वित्तस्य=धन का
पात्रे=पात्र में
व्ययः=खर्च करना
तपसः=तप का
अक्रोधः=शान्ति

प्रभवितुः=स्वामी का
क्षमा=क्षमा
धर्मस्य=धर्म का
निर्व्याजता=निष्कपटता भूषण है
(परन्तु)=परन्तु
सर्वेषाम् अपि=सभी का

सर्व-काल-सुभगम्=सदा सुन्दर लगने वाला
वरम्=श्रेष्ठ
भूषणम्=भूषण
शीलम्=सदाचार
(अस्ति)=है।

(कवित्त)

शीतल सुगन्ध मन्द भूषण प्रभंजन को,
धर्म स्वयश दोऊ मौन के विचारी है।
क्षमा तपधारी विद्या विप्र को उचारी,
निज-पतिव्रत नारी धन दान पात्र भारी है।।
उपशम ज्ञानी पुनि पंडित अमानी,
शूर संयम सो बानी नरपति नीति प्यारी है।
देह को प्रधान दृग मृदुता महान जग,
भगवान पाद भृगु वन्दना हमारी है।।७।।

शब्दार्थः—प्रभंजन=वायु। उपशम=शान्ति। नरपति=राजा। दृग=आँख।

अर्थः—निम्न वस्तुएँ इन गहनों से शोभा पाती हैं। वायु का गहना शीतलता, सुगन्धि और मन्द-मन्द बहना है, पुण्य कार्य करते समय अथवा अपनी प्रशंसा के समय विचारशील पुरुष का भूषण मौन है। तपस्वी का गहना क्षमा, ब्राह्मण का भूषण विद्या, नारी का गहना पतिव्रत धर्म पालन करना है। धन की शोभा सुपात्र को दान देने में होती है, ज्ञानी का भूषण शान्ति है, पण्डित का गहना निर्मान होना है, अपनी वाणी पर नियन्त्रण

रखना शूरवीर का भूषण है, राजा का गहना नीतिशास्त्र के अनुसार चलना है, शरीर के प्रधान भूषण नेत्र हैं, और संसार में सबसे प्रधान भूषण मृदुस्वभाव अर्थात् नम्रता है। श्रीविष्णु भगवान् की परीक्षा लेने के लिये भृगु ऋषि ने जब उनकी छाती पर लात मारी, तो उस समय कितने नम्र शब्दों में भगवान् ने भृगु से कहा कि "मेरी छाती पर लात लगाने से कहीं आपके पांव में चोट तो नहीं आ गई" ऐसे श्रीविष्णु भगवान् को तथा इस प्रकार का नम्र स्वभाव जिन पुरुषों का है ऐसे मनुष्यों को मेरी बार-बार नमस्कार है।

(शार्दूल-विक्रीडित)

सारं संक्षमणं प्रभोर्विमृदुता, सिद्धस्य यूनां धृति,
दुर्वाचां सहनं च शास्त्रविहितं, स्वस्याः स्तुते वैं भयम्।
सत्कार्यस्य कृति र्दयावितरणं, दीने प्रदीने तथा,
शत्रोः खेदप्रसाहनं हि कुरुते, नोपेक्षते चान्यकम् ॥८॥

प्रभोः=स्वामी का
सारम्=सार
संक्षमणम्=क्षमा है
सिद्धस्य=सिद्ध का
विमृदुता=कोमलता
यूनाम्=जवानों का
धृतिः=धैर्य
च=और
दुर्वाचाम्=कठोर शब्दों का
सहनम्=सहन करना
स्वस्याः=अपनी
स्तुतेः=प्रशंसा से

भयम्=भय
वै=निश्चय करके
सत्कार्यस्य=सत्कर्म का
कृतिः=करना
दीने=दीन [व]
प्रदीने=अतिदीन के विषय में
दया-वितरणम्=दया रखना
तथा=और [जो]
शत्रोः=शत्रु से प्राप्त हुए
खेद-प्रसाहनम्=दुःखों को सहन
कुरुते=करता है
च=और

हि=निश्चय करके
अन्यकम्=दूसरों के दु:खों की
नोपेक्षते=उपेक्षा नहीं करता
[वही श्रेष्ठ पुरुष है]

[इदं सर्वम् च]=और यह सब
शास्त्र-विहितम्=शास्त्र के अनुसार है।

(सवैया)

धनवान क्षमा धृति ज्वान तपी,
मृदु मौनि कुवाक निजै यशते।
परकाज मरै सुधरै धरमा,
करहै करुणा वृद्ध ते पशुते।
पर खेद सहै न सहै पर खेद,
यथा सुख मोद अघै त्रसते।
कबहूं करते नसते दसते।
हंसते हंसते स्वरगै बसते ॥८॥

शब्दार्थ:—खेद=दु:ख। मोद=आनन्द। अघै=पापों से। त्रसते=डरता है। करते=हाथ से। नसते=चोरी नहीं करता। दसते=देखते-देखते।

अर्थ:—धनवान् को क्षमा करनी चाहिये, जवान को चाहिये कि वह धैर्य धारण करे, तपस्वी का यही भूषण है कि वह दूसरों से मीठा बोले; तथा जो पुरुष अपनी निन्दा व यश के समय मौन रहता है, दूसरों के कार्य सिद्ध करने के लिये अपना जीवन तक बलिदान कर लेता है, धर्म (कर्तव्य) को सुदृढ़ रूप से धारण करता हुआ वृद्धजनों पर, दीन व पशु आदिकों पर सदा दया करता है, अपने पर यदि कोई कष्ट आ जाय तो उसे सहन करता है, किन्तु दूसरों के कष्ट को सहन नहीं करता अर्थात् दूसरों

के दुःख दूर करने के लिये सदा ही तत्पर रहता है, यथा लाभ सन्तुष्ट रहता हुआ पापों से डरता रहता है तथा हाथ से कभी किसी की चोरी नहीं करता, ऐसा मनुष्य देखते-देखते हंसते-हंसते अर्थात् यहां भी सुखमय जीवन बिताता हुआ स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।

दोहा—दोइ सवैये दोहरे, पांच कवित्त सु एक।
अष्ट छन्द चित कष्ट को, करै नष्ट क्षण एक ॥१॥

शब्दार्थः—अष्ट=आठ।

अर्थः—इस अध्याय में दो सवैये, पांच दोहे, एक कविता ये आठों छन्द चित्त के कष्ट को एक क्षण में नष्ट करते हैं।

दोहा—इति श्रीसारुक्तावली, तासु चतुर्थोऽध्याय।
ज्ञान निरूप्यो ताहि में, कवि हरद्याल सुभाय ॥२॥

अर्थः—श्रीसारुक्तावली का चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ, जिसमें कवि श्रीहरदयालजी महाराज ने सुन्दर भावपूर्वक व्यावहारिक ज्ञान का निरूपण किया।

इति चतुर्थोऽध्यायः

अथ पंचमोऽध्यायः

दोहा—अथ पंचम अध्याय में, वर्णन करौं विचार।
षष्ठ छन्द चित चंद जन, श्रुति धरि सुनो उदार ।।

शब्दार्थः—चन्द=चन्द्रमा । श्रुति=श्रवणात्मिका वृत्ति अर्थात् सुनने में ध्यान।

अर्थः—अब पाँचवें अध्याय में विचार का वर्णन करता हूँ। इसके छः छन्द जिज्ञासुजनों के चित्तों के चन्द्रमा हैं अर्थात् उनके चित्तों को चन्द्रमा की तरह शीतलता (शान्ति) व प्रकाश (ज्ञान) पहुंचाने वाले हैं। अतः हे उदार पुरुषो ! इन्हें सावधान होकर सुनो।

—o—

(अनुष्टुप्)

गौरवं प्राप्यते दानान्नतु द्रव्यस्य संग्रहात्।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां, पयोधीनामधः पुनः ।।१।।

दानात्=दान से
गौरवम्=प्रतिष्ठा
प्राप्यते=प्राप्त होती है
द्रव्यस्य=द्रव्य के
संग्रहात्=इकट्ठा करने से
तु=तो
न=[गौरव प्राप्त] नहीं होता
(यथा)=जैसे

पयोदानाम्=बादलों की
स्थितिः=स्थिति
उच्चैः=ऊँची [होती है]
पुनः=और
पयोधीनाम्=समुद्रों की [स्थिति]
अधः=नीचे
भवति=होती है।

(चौपाई)

गौरव प्रापति दान करै धन।
धन संग्रह करि गौरव नहिं जन।।
सब ते ऊरधि वारिद जैसे।
वारिधि अधो भये पुनि तैसे ।।१।।

शब्दार्थः—ऊरधि=ऊपर । वारि=जल+द=देने वाले अर्थात् वारिद=बादल । वारि=जल+धि=इकट्ठा करने वाला अर्थात् वारिधि=समुद्र । अधो=नीचे ।

अर्थः—धन का दान करने से अर्थात् सत्पात्र व सत्यकार्यों में व्यय करने से ही बढ़ाई प्राप्त होती है । केवल धन को इकट्ठे ही करते रहने से प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती । जैसे दूसरों के लिये जल बरसाने वाले बादल सदा ही ऊँचे रहते हैं और केवल जल को इकट्ठा करने वाले समुद्र की स्थिति सदा के लिये नीचे ही हो गई है ।

(अनुष्टुप्)

एकं वापीजलं यद्वदिक्षौ मधुरतां व्रजेत् ।
निंबे कटुकतां याति, पात्राऽपात्राय भोजनम् ।।२।।

यद्वत्=जिस प्रकार
एकम्=एक ही
वापी-जलम्=बावड़ी का जल
इक्षौ=ईख में
मधुरताम्=मधुरता को
व्रजेत्=प्राप्त होता है
निम्बे=नीम में
कटुकताम्=कड़ुवेपन को
याति=प्राप्त होता है
तद्वत्=उसी प्रकार
पात्राऽपात्राय=पात्र और अपात्र के लिये
भोजनम्=दिया हुआ भोजन [गुण अथवा अवगुण करता है] ।

(सोरठा)

ज्यों इक वापी तोय, ईष संग मिलि मधुर अति।
कटुता नीम समोय, भोजन पात्र अपात्र त्यों ।।२।।

शब्दार्थः—वापी=बावड़ी। तोय=जल। ईष=गन्ना। समोय=संग में।

अर्थः—जैसे एक ही बावड़ी का जल, गन्ने के साथ मिल कर अति मधुर हो जाता है और नीम के साथ संग करने से कड़वेपन को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार यदि किसी गुणवान् सदाचारी सज्जन मनुष्य को भोजन आदि दान दिया जाता है तो उस दान का परिणाम (फल) उत्तम होता है। उस दान से वह गुणवान् महानुभाव अपनी जीवनशक्ति का संचय करके, देश, जाति वा ईश्वर-भक्ति से स्वयं को व संसार को सुख व शान्ति प्रदान करता है। और यदि किसी समाजद्रोही दुष्ट पाखण्डी को भोजन आदि दान दिया जाता है, तो वह दान उस दुष्ट द्वारा समाज में अव्यवस्था व अशान्ति फैलाने में एक सहायक अंग बन जाता है। उस दान से वह कुत्सित वासनाओं से रंगे हुए हृदय वाला समाजघातक, ईश्वर के अविचल व कठोर नियमों से अनभिज्ञ यमराज का दूत अपनी आसुरी संपत्ति का संचय करके समाज व स्वयं को दुःखी कर डालता है। अतः दान आदि शुभ कर्म विचारपूर्वक करने से ही फलदायक होते हैं।

(अनुष्टुप्)

सत्पात्रोपगतं दानं, सुक्षेत्रे गतबीजवत्।
कुपात्रोपगतं दानं, कुक्षेत्रे गतबीजवत् ।।३।।

सत्पात्रोपगतम्=सत्पात्र को दिया हुआ
दानम्=दान
सुक्षेत्रे=उत्तम क्षेत्र में
गतबीजवत्=डाले हुए बीज समान [सफल]

(च)=और
कुपात्रोपगतम्=कुपात्र को दिया हुआ
दानम्=दान
कुक्षेत्रे=कुक्षेत्र में
गतबीजवत्=डाले हुए बीज के समान [निष्फल होता है]।

(भुजंग-प्रयात छन्द)

फलीभूत दानं शुभं पात्र दैयो,
यथा बीज बोयो सुक्षेत्रे अखैयो।
कुपात्रे मंझारी दयो दान ऐसे,
कुक्षेत्रे मंझारी बुयो बीज जैसे ॥३॥

शब्दार्थः—अखैयो=अक्षय अर्थात् नष्ट न होने वाला।

अर्थ—जो अपने बुद्धिबल, विद्याबल, शरीरबल व मनोबल से समाज की सेवा करते हैं, जो समाज में किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं फैलाते प्रत्युत जो नाना प्रकार की अज्ञानवश अथवा दुष्टों द्वारा फैलाई हुई अव्यवस्थाएँ समाज में हैं उन्हें अपने विद्याबल व तपोबल द्वारा समाज से निकालकर समाज में व्यवस्था, सुख व शान्ति का प्रचार व संचार करते हैं, जो इस प्रकार संसार के सच्चे सेवक के रूप में प्रधान नेता हैं, जिन्होंने विश्व-कल्याण के लिये अपने जीवन को न्यौछावर कर रखा है, वे ही वास्तव में दान के पात्र हैं। उनकी दान द्वारा सेवा करना समाज की सेवा करना है। ऐसे शुभ पात्र को दिया हुआ दान ही फलीभूत हुआ करता है। जिस प्रकार किसी यन्त्र (मशीनरी) का एक पुर्जा उस यन्त्र का अंग बन कर, उस यन्त्र के जीवन में अपने जीवन को न्यौछावर करके, उसको चलाने में अपनी पूर्ण शक्ति लगाता हुआ गर्म हो जाता है, उसका तेल सूख जाता है, तो उस तेल की कमी से यन्त्र की सेवा करने में शिथिल हो रहे उस पुर्जे को तेल देना सारे यन्त्र को तेल देना है। उस पुर्जे की

रक्षा उस यन्त्र की रक्षा है। इसी प्रकार जो अंग समाज के सेवक अंग हैं, जो व्यक्ति समाजयन्त्र की सेवा में प्रधान पुर्जे होकर, अपने जीवन का बलिदान करके, समाज को अपने खून से सींचते-सींचते खुद शान्त हो रहे हैं, जिनकी जीवन-शक्ति समाज की सेवा में खर्च होकर कम हो रही है, उनकी जीवनशक्ति की कमी को पूरा करना, समाज की कमी को पूर्ण करना है। उनकी सेवा राष्ट्र की सेवा है। उनका जीवनोद्धार देश का जीवनोद्धार है। अतः वही सेवा, वही दान वास्तविक फल को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार सुन्दर खेत में (श्रेष्ठ भूमि में) बोया हुआ बीज ही फल को देता है, उसी प्रकार आवश्यकता वाले समाजसेवी श्रेष्ठ पात्र को दिया हुआ दान ही फल को देता है।

और कुपात्र को दिया हुआ दान उसी प्रकार विफल होता है जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोया हुआ बीज विफल होता है। प्रत्युत (बल्कि) कुपात्र को दिया हुआ दान केवल विफल ही नहीं होता अपितु समाज में अव्यवस्था, दुःख व अशान्ति फैलाता है। इस प्रकार का दान देना समाज से द्रोह करना है। समाज को विषैला बनाने वाले सर्पों को दूध पिलाना है। पाखण्ड को उत्साहित करना है। दुष्टता का आदर करना तो दूर रहा अपितु अनादर न करना भी सज्जनता का अनादर करना है। और यदि हम समाज के विरोधी अंगों की किसी प्रकार सेवा करके उनके जीवन को बनाए रखने में सहायता करेंगे तो उससे जो समाज में क्लेश व अशान्ति की लहरें उत्पन्न होंगी, वे हमारे अंचल को भी अवश्य गीला करेंगी। उस अशान्ति की लहर में हमें भी आना पड़ेगा। अतः यदि हम अपनी व समाज की सुख-शान्ति चाहते हैं, तो पात्र-कुपात्र को देखकर ही दान आदि द्वारा समाज की सेवा करें।

(उपजाति)

तद्भोजनं यन्मुनि-भुक्त-शेषं, स बुद्धिमान् यो न करोति पापम् ।
तत्सौहृदं यत्क्रियते परोक्षं, दम्भैर्विना यः क्रियते स धर्मः ।।४।।

तत्=वह [ही]
भोजनम्=भोजन [है]
यत्=जो
मुनि-भुक्त-शेषम्=मुनियों को खिलाने के बाद बचा हो ।
सः=वही
बुद्धिमान्=बुद्धिमान् [है]
यः=जो
पापम्=पाप
न=नहीं
करोति=करता है ।

तत्=वही
सौहृदम्=मित्रता वा सज्जनता [है]
यत्=जो
परोक्षम्=परोक्ष में
क्रियते=की जाती है ।
सः=वही
धर्मः=धर्म [है]
यः=जो
दम्भैः=आडम्बर के
विना=बिना
क्रियते=किया जाता है ।

(छप्पय छन्द)

यज्ञशेष मुनि-भुक्ति-शेष वर ये द्वय भोजन ।
पापहिं त्यागै जौन वही है बुद्धिमान जन ।।
उपमा करै अदृष्ट श्रेष्ठ सो मित्र महावर ।
दंभ बिना जो धर्म धर्म वह कहैं मुनीश्वर ।।
हरिभक्त जगत में जानि निज इष्ट विना दृष्टे न अन ।
पुनि साधु वही जग जानिये जाके नहीं उपाधि मन ।।४।।

शब्दार्थः—मुनि-भुक्ति-शेष=मुनियों के खाने के बाद बचा हुआ । उपमा=बड़ाई । अदृष्ट=अपरोक्ष अर्थात् पीठ पीछे । दृष्टे=दीखे । अन=दूसरा । उपाधि=अशान्ति वा खटपट ।

अर्थः—यज्ञ के बाद बचा हुआ तथा सत्पुरुष एवं महात्माओं के खाने के बाद बचा हुआ भोजन, ये दोनों भोजन श्रेष्ठ हैं। बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो पाप कर्मों को त्याग देता है। सब से श्रेष्ठ मित्र वही है जो पीठ पीछे प्रशंसा करता है। मुनीश्वर लोग वास्तविक धर्म उसे कहते हैं जो धर्म (शुभकर्म) दम्भ (पाखण्ड) के बिना किया जाय। संसार में प्रभुभक्त उसी को समझना चाहिये जिसे अपने इष्ट के सिवाय दूसरा न दीखे अर्थात् निज इष्ट परब्रह्म के सिवाय अन्य किसी की सत्ता न मानता हुआ सर्वत्र आत्मरूप सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म का दर्शन करे। और साधु पुरुष उसे समझना चाहिये जिसके मन में कोई उपाधि अर्थात् दृढ़ राग-द्वेष आदि वा खटपट न हो।

(मालनी)

यदि विधरसि दंडं, नग्नमुण्डं जटां वा।
यदि वससि गुहायां, वृक्षमूले शिलायाम्।।
यदि पठसि पुराणं, वेद-सिद्धान्त-तत्त्वम्।
यदि हृदयमशुद्धं, सर्वमेतन्न किञ्चित्।।५।।

(हे मनुज !)=हे मनुष्य
यदि=चाहे
(त्वम्)=तुम
दण्डम्=दण्ड
विधरसि=धारण करते हो
वा=अथवा
नग्न-मुण्डम्=मुण्डा हुआ शिर
(विधरसि)=धारण करते हो
(अथवा)
जटाम्=जटा को
(विधरसि)=धारण करते हो
यदि=चाहे
गुहायाम्=गुफा में
वससि=रहते हो (अथवा)
वृक्ष-मूले=पेड़ के नीचे
वससि=निवास करते हो
[अथवा]
शिलायाम्=शिला पर

(वससि)=बैठते हो
यदि=चाहे
पुराणम्=पुराण को
पठसि=पढ़ते हो (अथवा)
वेद-सिद्धान्त-तत्त्वम्=वेदान्त को
(पठसि)=पढ़ते हो
(किन्तु)=परन्तु
यदि=यदि
हृदयम्=मन
अशुद्धम्=अपवित्र

(अस्ति)=है
(तर्हि)=तो
एतत्=यह
सर्वम्=सब
किञ्चित्=कुछ
अपि=भी
न=नहीं
अस्ति=है अर्थात् बिना चित्त की शुद्धि के यह सब निष्फल है।

(सवैया)

जब धार त्रिदण्ड फिरै नगना,
मुख ऊपर शीश जटान धरै।
अथवा गिरिकंदर बीच बसै,
शिल पै तिथ ह्वै थित वृक्ष तरै।।
तत वेद पुराण सिद्धान्त पढै,
उपवास धरै तीरथ विचरै।
मन में जब भोगनि की रति है,
तब ए सब किंचित नाहिं करै।।५।।

शब्दार्थ:—त्रिदण्ड=तीन दण्ड। जटान=जटा। गिरि-कंदर=पहाड़ की गुफा। थित=स्थित। तत=तत्त्व। रति=प्रीति। किञ्चित=कुछ।

अर्थ:—यदि कोई मनुष्य लाठी ले ले, लंगोटी लगा ले और करमंडल [कमंडल] ग्रहण कर ले, इस प्रकार तीन डण्ड धारण

कर ले अथवा सभी वस्त्र त्याग कर दिगम्बर (नंगा) होकर भ्रमण करे अथवा मुख ऊपर मस्तक पर जटा धारण कर ले अथवा किसी पहाड़ की गुफा में जाकर निवास करे वा किसी शिला पर आसन जमावे अथवा किसी वृक्ष के नीचे निवास करे चाहे वेद के तत्त्व वा पुराणों के सिद्धान्त का अध्ययन करे अथवा एकादशी आदि को उपवास करता रहे अथवा हरिद्वार आदि तीर्थ-स्थान अथवा गुरुस्थान पर विचरण करता रहे, किन्तु जब तक मन में विषयभोग की लालसा है तब तक इन सबसे कुछ भी लाभ नहीं होता; अर्थात् इन सब वैराग्य के साधनों का लक्ष्य है: मन को शान्त करके जीवन-मुक्ति का आनन्द लूटना। उस शान्ति के सागर में मन को डुबा देना। उस परमानन्द रस में मन को विभोर कर देना। किन्तु यदि इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया, मन फिर भी विषय-चिन्तन में मग्न रहा, उस विषय-विष का पान करता रहा तब तो वे ऊपर कहे गये साधन केवल दिखावे के लिए किये हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। फिर तो वे साधन उल्टे मान-प्रतिष्ठा का और मद पिला कर पहले से भी अधिक दुःखी व अशान्त कर देते हैं। अतः हमें सर्व प्रथम मन को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये।

"जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्" इस गीता के वचनानुसार विषयों में दोष-दृष्टि लाता हुआ तथा अपने शरीर सहित सम्पूर्ण नामरूप प्रपञ्च को स्वप्न की भांति मिथ्या समझता हुआ तथा बार-बार इस निश्चय को दुहराता हुआ, स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर के साक्षी-रूप अपने वास्तविक स्वरूप को अकर्ता, अभोक्ता, असंग, निर्विकार, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परब्रह्म रूप से चिन्तन करता हुआ, संकल्प विकल्प अवस्था-रूप मन को मिटाकर सदा आत्मानंद-रूप से स्थित होने का अभ्यास करता रहे। बस! यही मन को मिटाने का सही

उपाय है। इसी बात को भगवान् ने गीता में समझाते हुए कहा है कि "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" अर्थात् उपर्युक्त रूप से विषयों में अशान्ति-जनकत्व तथा मिथ्यात्व आदि दोषों को देखते हुए मन को विषयों से ग्लानि दिलाना-रूपी वैराग्य तथा अपने वास्तविक स्वरूप के चिन्तन का अभ्यास, इन दोनों से मन वश में हो जाता है। तथा अन्य भी मन को शान्त करने के साधन हैं, जैसे देश की, गुरु की व कुटुम्ब आदि की निष्काम भाव से सेवा करना अथवा अपने इष्टदेव का चिन्तन करना अथवा किसी मन्त्र का जप करना अथवा ॐ का एक ही श्वास में जितना लम्बा हो सके उतना दीर्घ उच्चारण करना अथवा प्राणायाम आदि साधनों से भी मन को वश में किया जाता है। तथा पुनः उसे चिरन्तन शान्ति दिलाने के लिए उपर्युक्त वैराग्य और अभ्यास करता हुआ यह मनुज परमशान्ति-रूप मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

(अनुष्टुप्)

मातृवत्परदारांश्च, परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वसत्त्वानि, यः पश्यति स वैष्णवः ॥६॥

यः=जो
परदाराः=परस्त्री को
मातृवत्=माता के समान
च=और
परद्रव्याणि=दूसरों के धन को
लोष्टवत्=मिट्टी के ढेले के समान (तथा)
सर्वसत्त्वानि=सभी जीवों को
आत्मवत्=अपने स्वरूप की तरह (सत् चित् आनंद-स्वरूप परब्रह्म रूप से)
पश्यति=देखता (मानता) है
सः=वही
वैष्णवः=सच्चा प्रभुभक्त [है]।

(तोटक छंद)

निज मात जिवैं पर नारि भजै,
पर को धन लोष्ट समान तजै।
सब जीव स्वयं सम देखत जो,
वहि वैष्णव है इमि पेखत जो ।।६।।

शब्दार्थ:—लोष्ट=मिट्टी का ढेला । तजै=त्याग करे । इमि=इस प्रकार । पेखत=देखता है ।

अर्थ:—जो पुरुष दूसरे की स्त्री को अपनी माता के तुल्य मानता है तथा दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के समान देखता है अर्थात् जैसे कहीं मिट्टी का ढेला पड़ा रहे तो हम उसे ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करते, उसी प्रकार दूसरे के धन को चुराने अथवा किसी प्रकार हजम करने की कोशिश तो क्या किन्तु ऐसा मन में विचार तक भी नहीं लाता है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं कि—

"जननी सम जानहिं पर नारी ।
धन पराए विष ते विष भारी ।।"

अर्थात् दूसरे की नारी को माता के समान तथा दूसरे के धन को विष से भी विष अर्थात् विष से भी अधिक दुःखदायी समझता है तथा सभी जीवों को अपने वास्तविक स्वरूप के समान असंग, कूटस्थ (निर्विकार) शुद्धचेतन ब्रह्मस्वरूप समझता है, अथवा व्यावहारिक दृष्टिकोण से जिस प्रकार अपने से कोई अनुकूल आचरण करता है तो हमें अच्छा प्रतीत होता है तथा यदि कोई प्रतिकूल आचरण करता है तो हमें बुरा लगता है; ठीक इसी प्रकार जो दूसरों के विषय में भी समझता हुआ सबसे अनुकूल बर्ताव करता है वही वैष्णव अर्थात् वास्तविक हरि-भक्त है ।

दोहा—इक चौपई इक सोरठा, एक भुजंग-प्रयात ।
एक छपा तोटक हको, एक सवैया जास ।।१।।

अर्थः—इस अध्याय में एक चौपाई, एक सोरठा, एक भुजंग-प्रयात नामक छन्द, एक छप्पय छन्द, एक तोटक छन्द तथा एक सवैया है ।

———

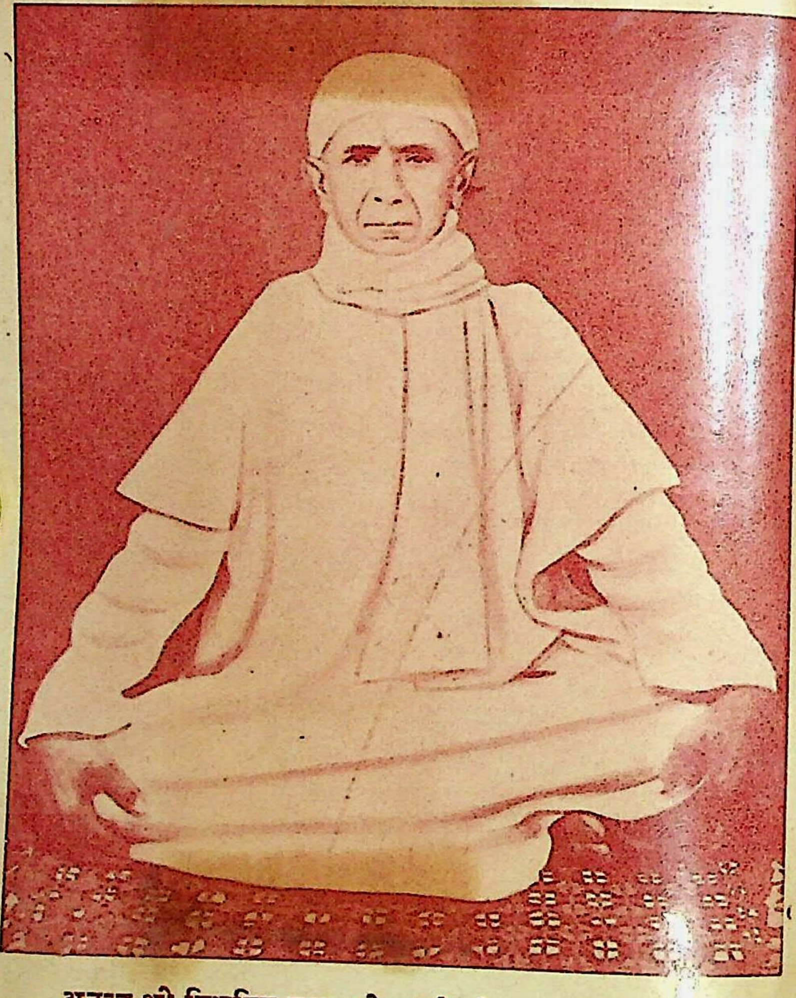
दोहा—इति श्रीसारुक्तावली, तासु पंचमोऽध्याय ।
तामहिं कह्यो विचार शुभ, कवि हरद्याल सुभाय ।।२।।

अर्थः—श्रीसारुक्तावली का पंचम अध्याय समाप्त हुआ, जिसमें कवि श्रीहरदयालजी महाराज ने सुन्दर भावपूर्वक शुभ विचारों का वर्णन किया है ।

———

इति पंचमोऽध्यायः

सद्गुरु



अनन्त-श्री-विभूषित सन्त श्रीस्वामी लीलाशाहजी महाराज